YUG SETU

# युग सेतु

युग चेतना की मासिक पत्रिका

वर्षः 4 अंक : 39 अक्टूबर-नवंबर, 2014 ₹ 15

## लिखना क्यों जरूरी है?

## स्वच्छता मतलब गंदगी रोकने का सलीका

# युग सेतु

वर्ष 6 अंक 66 फरवरी 2017

वेबसाइट : www.yugsetu.com

**संपादक**
ओम प्रकाश शर्मा

**कार्यालय**
जी-21, प्रथम तल, लक्ष्मी नगर
दिल्ली-110092
दूरभाष-011-22040692

**संपर्क कार्यालय**
873, सेक्टर-21सी, हरियाणा-121001
दूरभाष-9013379808, 9650914297

ई.मेल : yugsetu@gmail.com

स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक ओम प्रकाश शर्मा द्वारा, जी 21 लक्ष्मी नगर, दिल्ली से प्रकाशित एवं ग्राफिक प्रिंट, 383 एफ.आई.ई.पटपड़गंज इंडस्ट्रीयल एरिया, दिल्ली 110092 से मुद्रित।


# अंदर के पन्नों में .....


संपादकीय ③

वाग्देवी वसंत और निराला ⑤

विश्वविद्यालयी-शिक्षा के सरोकार ⑧

नर-नारी द्वंद्व के प्रतीक सत्यकाम-जाबाला ⑩

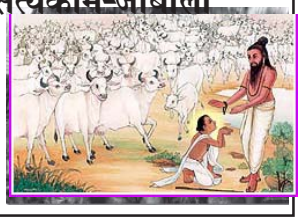

भारतीय राजनीति का अपराधीकरण ⑫

500-1000 के संग नोटबंदी के रंग ⑭

अनूप शर्मा एक अद्वितीय शब्द-शिल्पी ⑮

498ए और वनटाइम सेटलमेंट का धंधा ⑳

राम नाम सत्य है ㉓

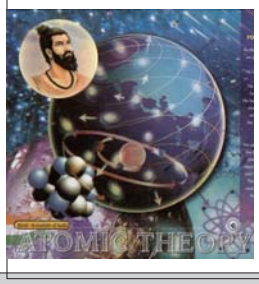

आजादी की गुलामी ㉔

युग सेतु में लेखकों के प्रकाशित आलेखों के विचारों से संपादक या प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।
किसी भी विवाद का निबटारा दिल्ली न्यायालय में होगा।

संपादकीय

# सत्यांश

## विश्वविद्यालयी शिक्षा के बदलते सरोकार

पिछले दिनों राज्यसभा टीवी पर चर्चा के दौरान नई शिक्षा नीति हेतु अनुशंसा के लिए गठित समिति के अध्यक्ष एवं पूर्व कैबिनेट सचिव टी. एस.आर. सुब्रह्मण्यम ने कह दिया कि पिछले पचास-साठ सालों में जैसा हुआ है, वही इस बार की शिक्षा नीति में भी हुआ है। ये बात वे निश्छलता से कह गए। नौकरशाही में रहा आदमी अमूमन जरूरत से ज्यादा नहीं बोलता, बिंदुवार बात रखना जानता है। फिर भी चेतन-अचेतन मन-मस्तिष्क में बैठी ऐसी बात उनके मुँह से अनायास निःसृत हो गई। सुब्रह्मण्यम जी दक्षिण भारतीय हैं, प्रवाहपूर्ण हिन्दी बोलते हैं। वे जानबूझकर सार्वजनिक तौर पर ऐसी बात नहीं कह सकते, विशेषकर तब, जब मोदी सरकार ने पिछले पचास-साठ साल का बहुत कुछ बदल देने का खुला संकल्प जाहिर कर रखा है। यों सरकार या कोई भी यह दावा नहीं कर सकता कि सब कुछ नया हो जाएगा, क्योंकि पूरा नया तो कभी कुछ होता ही नहीं, पर जितना नया हो सकता था, शायद उतना भी नहीं हो पा रहा है- यह खुद सुब्रह्मण्यम जी के अचेतन मन की चेतन पुकार से स्पष्ट है। उन्होंने अपनी नब्बे अनुशंसाओं का जिक्र किया, पर चर्चा का बहुलांश परीक्षा, परिणाम व ग्रेडिंग के बीच झूलता रहा। उन्होंने चाहे अनजाने में कहा हो या सोच-समझकर, पर एक गहरी सच्चाई जरूर रख दी, नहीं तो पिछले अगस्त में संसद सत्र के दरम्यान सांसदों खासकर पूर्व मानव संसाधन विकास मंत्री कपिल सिब्बल ने जब गुणवत्तापूर्ण, समान व सर्वव्यापी शिक्षा उपलब्ध कराने की दृष्टि से नए मसौदे को बेकार बताकर कूड़े में फेंक देने को कहा, तब इन्हीं सुब्रह्मण्यम ने इसे बिना पढ़े दी गई प्रतिक्रिया बताया था।

प्रायः बहुत सजग-सतर्क होकर जो कार्य किया जाता है, वह नैसर्गिक-प्राकृतिक विधान के विरुद्ध होता है और जो काम अनजाने में संपन्न हो जाता है, वह निसर्ग, प्रकृति, आत्मा व परमात्मा की लय के अधिक सन्निकट होता है। होशोहवास में लोग आत्मिक-परमात्मिक प्रकृति का हनन करते हैं। सांसारिक चेतना में सुविधानुसार गढ़ने की रचनात्मकता होती है, जबकि अचेतन स्थिति में यह नहीं रहती। इस प्रकार की अचेतन स्थिति में सायास लाने के लिए पोलिग्रॉफिक टेस्ट का सहारा जाता है, जहाँ आदमी सच बोल सकता है। इससे लगता है कि प्रायः लोग होश में होकर भी बेहोश रहते हैं। होश और बेहोशी से परे जो चेतना दोनों ही अवस्थाओं में विद्यमान रहती है, वही सच्ची चेतना है। जागने पर सपने लोप हो जाते हैं, उसी प्रकार दुनियादारी से निकलने पर सत्य प्रतीत होने वाली समझ विलुप्त हो जाती है। आदमी वैश्वानर बनकर एकमात्र आत्मचेतना से निर्दिष्ट होता है।

उच्च शिक्षा का भी काम उच्च चेतना उत्पन्न करना है, परंतु अब इससे कैसी चेतना-सृजनात्मकता जागृत हो रही है - यह विचारणीय है। चिंतन मनन, मौलिक विश्लेषण, अंतर-अनुशासनिक अथवा तुलनात्मक पड़ताल, सामयिक समस्याओं का निदान, रचनात्मकता-सृजनात्मकता का विस्तार तथा आधुनिक जरूरतों व संभावनाओं का पता लगाने के लिए नवान्वेषण उच्च शिक्षा का प्रयोजन है। जो है तो सही, पर ओझल, अदृश्य व अचिन्हित है, उसे सामने लाना और उससे आगे जाना, एकांगी दृष्टि व संकीर्णता से मुक्त होकर खुली चेतना का इंसान बनाना इसका परम लक्ष्य है। इसे प्राप्त करने के निमित्त विश्वविद्यालय की सदियों पुरानी संकल्पना है, जहाँ तपोबल तथा विद्या-बुद्धि से संपन्न शिक्षार्थियों के लिए अपने-अपने चरित्र से धरती के लोगों को सुशिक्षित बनाने का उद्देश्य उल्लिखित है -

विश्वविद्यालयाधीताः तपोविद्यासमुज्ज्वलाः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षंते पृथिव्यां सर्वमानवाः।।

विश्वविद्यालयों में पढ़ने वालों के लिए इतना महान लक्ष्य निर्दिष्ट है, तो फिर पढ़ाने वालों के समक्ष कैसा विजन होना चाहिए? अस्तु, यहाँ जोर शिक्षा द्वारा केवल रोजगार प्राप्त करने, जानकारी कंठस्थ करने तथा समयानुरूप मौखिक व लिखित व्याख्यान देने पर नहीं, बल्कि ज्ञान को आत्मसात कर आत्मिक चरित्र व व्यक्तित्व निर्मित करने पर है। विद्वान वे नहीं जो बहुत कुछ जानते हैं, वरन् वे हैं जो ज्ञान के अनुरूप आचरण करते हैं और जिनके आचरण से ज्ञान बनता-झमकता है। यहाँ महाभारत का एक प्रसंग उल्लेखनीय है। एक बार पांडव-कौरव बालकों को सत्य का पाठ याद करने के लिए कहा गया। सबने एक-आध दिनों में कंठस्थ करके सुना दिया, लेकिन युधिष्ठिर कई दिनों बाद भी ऐसा नहीं कर सके। उन्होंने इसका कारण बताया कि 'मैं अभी भी कभी-कभी झूठ बोल लेता हूँ। पाठ याद तब माना जाएगा, जब मैं पूरी तरह सत्याचरण करने लगूँगा।' वर्तमान में भी जिन लोगों ने थोड़ी-बहुत उच्च शिक्षा ग्रहण की है, उन सबकी पढ़ाई के दिनों की कुछ न कुछ अनुभवजन्य यादें जरूर रही होंगी; यदि वे उनमें से कुछ अद्भुत, अविस्मरणीय को लिपिबद्ध कर दें, तो उन सबके समायोजन से अच्छी शिक्षा नीति निर्मित हो सकती है।

उच्च शिक्षा की स्थिति को लेकर अनेक सकारात्मक व नकारात्मक सम्मतियाँ बौद्धिक समाज में प्रयुक्त होती हैं। उदाहरणस्वरूप, भारत के विश्वविद्यालय वैश्विक रैंकिंग में प्रायः नहीं टिकते, अतः भारतीय नेताओं, नौकरशाहों तथा बड़े धनपतियों की संतानें विदेशों में पढ़ती हैं; सरकारी विश्वविद्यालय फिसड्डी होते जा रहे हैं, जबकि निजी येनकेनप्रकारेण पैसा उगाहने के फेर में रहते हैं। अद्यतन होते वस्तुनिष्ठ पाठ्यक्रम का अभाव है, शोध की गुणवत्ता व स्तरीयता नष्ट हो गई है, योग्य शिक्षकों की भारी कमी है, बहुत सारे पद खाली रहते हैं, जिन पर मनमानी तदर्थ नियुक्ति करके दस-पंद्रह-बीस वर्षों तक काम चलाया जाता है। शिक्षा के बाजारीकरण, व्यवसायीकरण के कारण विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों में दूकानदारी हो रही है, डोनेशन का बोलबाला है, डिग्रियाँ पैसों से बेची जा

रही हैं, परीक्षा, मूल्यांकन प्रक्रिया तथा परीक्षा-फल में अनेकानेक तरीकों से सेंध लगने के कारण निष्पक्षता नहीं रह पाती है, अध्यापन की प्रशिक्षित प्रणाली का अभाव है, गुरु-शिष्य परंपरा का ह्रास हो गया है, सुदूर संस्थाओं में प्रयोगशालाओं व उनकी सामग्री का अभाव है। सतही गुटबंदी, नियुक्ति की राजनीति, बुनियादी ज्ञान का अभाव, एकांगी दृष्टिबोध के कारण जीने की कला की कमी, जिजीविषा का ह्रास, मौलिकता का अभाव आज के विश्वविद्यालयी वातावरण की सामान्य-सी बात है। अयोग्य शोध निर्देशक तरह-तरह से शोषण करते हैं। बहुलांश शोध शोध हैं ही नहीं, नकल या पुनरुक्ति हैं। घिसे-पिटे निर्रथक विषयों पर घुमाफिराकर जगह-जगह शोध होते हैं, जिनकी न कोई राष्ट्रीय एवं वैश्विक आवश्यकता है और न सामाजिक-शैक्षणिक मूल्य है। ऋग्वेद में आचार्य को मृत्यु कहा गया है -'आचार्यो मृत्युः', जिसका मतलब है कि आचार्य के सामीप्य में शिष्य के अहं की मृत्यु हो जाती है, किंतु आजकल के न जाने कितने शोधों में निर्देशकों व छात्रों की चेतना की अकाल व स्थायी मृत्यु हो जाती है, जबकि चाहे शिक्षक कितना ही बड़ा हो, उसकी अपनी सीमा होती है, लेकिन विद्यार्थी सदैव सीमातीत होता है। इसलिए विद्यार्थी भाव बिल्कुल मरने नहीं देना चाहिए।

लगभग सवा सौ साल पहले ज्ञान सहित सभी विषयों को उनकी उपयोगिता के आधार पर मापने और उपयोगिता भी रुपये-पैसों के लाभ के रूप में देखने की प्रवृत्ति के कारण विवेकानंद भी काफी व्यथित थे। तब से लेकर अब तक गुलामी से आजादी तक का सफर तय हुआ, लेकिन शिक्षा की उपयोगिता रुपयों के रूप में तलाशने की अभीप्सा तीव्र से तीव्रतर होते हुए कैंपस चयन व पैकेज के शिखर तक पहुँची है। यह प्रवृत्ति गौण से मुख्य नहीं, बल्कि संपूर्ण हो गई है। इसके शुरुआती दिनों में ही कवि को कहना पड़ा था कि 'शिक्षे! तुम्हारा नाश हो/तुम नौकरी के हित बनी।' आजकल सामाजिक उपादेयता वाली शिक्षा की बजाय किसी भी प्रकार से अधिकाधिक धन उगाहने वाली शिक्षा-बुद्धि व नौकरी-पेशे का साम्राज्य स्थापित है। शिक्षा को रोजगारपरक बनाने के चक्कर में बेरोजगारी बढ़ती गई है, कुछ को भारी पैकेज तो बाकी को बेरोजगारी या 'पढ़े फारसी बेचे तेल, देख भाई कुदरत का खेल' की स्थिति हासिल हुई है। रोजगार का कितना ही बड़ा दबाव हो, तथापि विद्यार्जन के मूल ध्येय-आदर्श से कभी भी कोई शिक्षा परे नहीं हो सकती और यदि इससे विलग हो जाए तो फिर वह शिक्षा नहीं; किंतु आज कोई रोजगार से इतर उच्च शिक्षा का प्रयोजन पूछता है क्या?

इस समय भारत में ७७७ सरकारी तथा निजी विश्वविद्यालय हैं। इनमें से ४७ केन्द्रीय विश्वविद्यालय, ३५० के आस-पास राज्य विश्व विद्यालय और १२५ डीम्ड विश्वविद्यालय हैं। भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, भारतीय प्रबंधन संस्थान, राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी संस्थान, भारतीय राष्ट्रीय विधि संस्थान, अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान जैसे उच्च शिक्षण संस्थान भी १०० के लगभग हैं। देश भर में ३३,००० से ज्यादा कॉलेज हैं। इनके अलावे खुले विश्वविद्याालय, दूरस्थ, पत्राचार एवं अनुवर्ती शिक्षा पाठ्यक्रमों के माध्यम से हर साल लाखों छात्र उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं। मानव संसाधन विकास मंत्रालय का उच्चतर शिक्षा विभाग, राष्ट्रीय मूल्यांकन एवं प्रत्यायन परिषद यानी एनएएसी, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग आदि इनकी गुणवत्ता-स्तरीयता पर परामर्श देते हैं और राज्यों एवं केंद्र तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों के बीच समन्वय का कार्य करते हैं। ये संस्थान स्वयं भी बड़ी परियोजनाओं पर अनुसंधान कराते हैं। यूजीसी के द्वारा सीधे कराए जा रहे अनुसंधान पर करोड़ों-अरबों रुपए खर्च किए जाते हैं। वे कितने मूल्यवान हैं, इसकी समीक्षा बहुत जरूरी है। यूजीसी के सारे स्कीम अघाए-कमाऊ शिक्षकों के लिए हैं, इनसे इतर के अनुसंधित्सुओं के लिए नहीं। अनेक पुस्तकालय, संग्रहालय, अकादमी, स्मारक, स्वयंसेवी संगठन भी शोध-अध्ययन कराते हैं। वैश्विक आविष्कारों के परिप्रेक्ष्य में इनके योगदान के अंश को देखना भी समय की माँग है। २००४ ई. में मनमोहन सरकार आने के बाद एक गोवा को छोड़कर सभी राज्यों में केन्द्रीय विश्वविद्यालय खुल गए हैं। गोवा में न होने के पीछे क्या पेंचदगी है - यह केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय के साथ गोवा सरकार ही बता सकती है। अभी हाल-फिलहाल में मोदी सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्री प्रकाश जावडेकर ने भी २० विश्वस्तरीय विश्वविद्यालयों के गठन का संकल्प व्यक्त किया है। यह कब, कहाँ, कैसे फलितार्थ होगा - अभी कहना कठिन है। दुष्यंत कुमार के शब्दों में -

आज सड़कों पर लिखे हैं सैकड़ों नारे न देख,
घर अँधेरा देख तू, आसमान के तारे न देख।

जो भी हो, कम से कम एक ऐसा विश्वविद्यालय अवश्य खुलना चाहिए, जो प्राचीन नालंदा व तक्षशिला के जोर का हो और आधुनिक कैम्ब्रिज, हार्वर्ड, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से कमतर भी न हो। कहने वाले कह सकते हैं कि यह तो है ही, एक नहीं कई-कई। खैर, यहाँ धर्म, दर्शन, भाषा, संस्कृति, मनोविज्ञान, आर्थिकी, इतिहास, राजनीति, प्राकृतिक विज्ञान, चिकित्सा, भूगोल, वाणिज्य, भौतिकी, रसायन, जीव-जंतुविज्ञान, प्रौद्योगिकी, अनुवाद, पत्रकारिता, ललित कला इत्यादि सबका समन्वित एक ही बृहद् पाठ्यक्रम के अध्ययन की सुविधा हो, जहाँ शिक्षार्थी का सर्वांग उन्नयन मुख्य ध्येय हो, बेशक यह आजीविका की दर्षष्टि से भी सुस्त नहीं रह सकता।

श्री प्रकाश जावडेकर ने 'दैनिक जागरण' में लेख लिखकर शिक्षकों, बुद्धिजीवियों, शिक्षाविदों, विचारकों सहित तमाम लोगों से नई शिक्षा नीति पर सुझाव देने का सार्वजनिक आह्वान किया है। पता नहीं, वर्तमान शिक्षा व्यवस्था व शिक्षा नीति से क्षुब्ध-चिंतित कितने जागरूक जनों ने कैसा-क्या सुझाया है। लेकिन इस संदर्भ में सटीक व ठोस राय देने का दायित्व सबका है। क्या करना है - इतना ही बताना पर्याप्त नहीं, बल्कि कैसे करना है - यह दर्शाना भी जरूरी है, क्योंकि कार्य करने का तरीका किसी काम को अच्छा या बुरा बनाता है। दिक्कत यह है कि पहले लिख-कह देने से किसी चीज का होना संदिग्ध और जमीन पर उतारना कठिन हो जाता है। इसलिए जमीनी धरातल पर फलीभूत होकर ही वह कहा जाए तो अच्छा है। रघुवीर सहाय के शब्दों में -

एक बात अभी लिखी नहीं गई बाकी है
होने को भी बाकी, लिखी जाए या न लिखी जाए
वह तुम जानते हो क्या?

# वाग्देवी, वसंत और निराला

**डॉ. ओम प्रकाश शर्मा**

वसंत पंचमी के दिन जन्म लेने वाले सूर्यकांत त्रिपाठी निराला का वसंत और वसंत पंचमी को पूजित होने वाली देवी सरस्वती के प्रति चेतन-अचेतन मन-मस्तिष्क में गहरा आकर्षण था। वाग्देवी का उन्होंने मौका निकाल-निकाल कर स्तवन किया है -'वर दे, वीणावादिनी वर दे।' दुनिया में अब तक जन्म लिए लोगों में से औसतन ३६५ वाँ हिस्सा वसंत पंचमी के दिन भी उत्पन्न हुआ होगा, किंतु हिन्दी साहित्य के हस्ताक्षर निराला व कुछ गिने-चुने लोग ही अपनी विशेष प्रतिभा से इस संयोग को सार्थकता दे पाए। इस सौभाग्य के लिए निराला कृतकृत्य है -'वरद हुईं शारदा जी हमारी,/पहनी वसंत की माला सँवारी।' वागीश्वरी वसंत के साथ और उसे धारण कर प्रकट होती हैं। प्रकृति की मनोरम और विहंगम छटाओं को बिखेरने वाला, पल-पल की नूतनता लिए, बहु-रूप-रंग में मंजरित वसंत के आने पर आत्मबोध, आनंद व ज्ञान का स्फुरण और सौंदर्य-तृप्ति होती है। विश्व भर में भिन्न-भिन्न नामों और रूपों में ज्ञान, संगीत, कला की देवी के रूप में सरस्वती की आराधना की परंपरा है। चीन, थाईलैंड, जापान, म्याँमार, नेपाल, भारत में यह विधि-विधान और काफी धूमधाम से मनाया जाता है। बंगाल में तो देवी पूजन - दुर्गा, काली या फिर सरस्वती का हो, पूरे प्रकर्ष पर होता है। इसी पृष्ठभूमि के संस्कारों में पले-बढ़े निराला के लिए काव्य-प्रतिभा ज्ञानेश्वरी का प्रसाद है। ऋग्वेद के अनुसार, सरस्वती परम चेतना तथा बुद्धि, प्रज्ञा व मनोवृत्तियों की संचालिका हैं। यही चेतना निराला के काव्य का प्राणतत्व है, जिसके लिए वे नतमस्तक हैं -'तुम्हीं गाती हो अपना गान,/व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान।' निराला की काव्य-कला की चरम उपलब्धि 'राम की शक्ति पूजा' में विनत राम के समक्ष शक्तिस्वरूपा देवी

भागवती जब प्रकट होती हैं, तो वहाँ भी सरस्वती उपस्थित हैं; शायद इसलिए भी कि बुद्धि तत्त्व के बिना शक्ति व सौंदर्य तत्त्व उपयोगी नहीं हो सकता, वह अधूरा रहता है -

*देखा राम ने, सामने श्री दुर्गा, भास्वर*
*वाम पद असुर स्कंद पर, रहा दक्षिण हरि पर,*
*ज्योतिर्मय रूप, हस्त दश विविध अस्त्र सज्जित,*
*मंद स्मित मुख, लख हुई विश्व की श्री लज्जित*
*हैं दक्षिण में लक्ष्मी, सरस्वती वाम भाग,*
*दक्षिण गणेश, कार्तिक बायें रण-रंग-राग।*

उज्ज्वलमयी दुर्गा का बायाँ पैर राक्षस महिषासुर के कंधे पर और दाहिना शेर पर है, दसों हाथ भिन्न-भिन्न अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हैं, मुख पर हल्की मुस्कान के साथ दिव्य आभा है। दाहिनी ओर लक्ष्मी और बायीं ओर सरस्वती, फिर दाहिने गणेश और बायीं तरफ देवताओं के सेनापति कार्तिकेय युद्ध की वेशभूषा में उपस्थित हैं। सरस्वती के वरद पुत्र निराला शक्ति की अरिहार्यता से भी भलीभाँति परिचित थे। शारीरिक बल-सौष्ठव के लिए व्यायाम तथा कुश्ती का अभ्यास करते थे। हरिवंश राय बच्चन ने अपनी आत्मकथा 'दशद्वार से सोपान तक' में लिखा है कि ''आधुनिक युग के दो बड़े साहित्यकारों के चरित्र बड़े विचित्र, बीहड़, बेहंगम और बेढंगे थे। उनमें एक थे 'निराला' और दूसरे थे 'उग्र'। मध्ययुगीन वर्जनाओं, निषेधों, दमनों का चरम पर पहुँच कर जहाँ विस्फोट हुआ था, वहीं इन दो विभूतियों ने अवतार लिया था। उनके प्रति मन में आदर का भाव भी उठता और उनसे डर भी लगता था। कभी-कभी उन पर क्रोध और यदा-कदा उनसे घृणा भी हो सकती थी, पर उनकी उपेक्षा किसी भी हालत में नहीं की जा सकती थी।...निराला को पर-प्रतिभा बड़े से बड़े की भी सह्य न थी। हमारे युग में तो रवीन्द्र नाथ टैगोर प्रतिभा के मानदंड माने जाते थे। उनके लिए निराला ने कहीं लिखा था, 'जब रवीन्द्र नाथ के राजसूय यज्ञ का यशःअश्व बंगाल से छूटा तो मैंने गढ़ाकोला में पकड़ा। गढाकोला उन्नाव का एक गाँव, जहाँ निराला का पैतृक घर था। निराला ने अपने पागलपनी क्रोध में एक बार मुझे कुश्ती के लिए ललकारा, मैंने कहा, मैं तो आपका चरण छूने के योग्य भी नहीं हूँ, आपसे कुश्ती क्या लडूँगा? अमृतलाल नागर चश्मदीद गवाह हैं - निराला पानी-पानी हो गए थे।'' आत्मकथाएँ आत्मरक्षा हेतु आत्मपक्ष रखने

का औजार होती हैं, इसलिए इसमें आत्मकथाकार अपना बचाव करते हुए भी दूसरों के बारे में सामान्यतः सच बोलता है, बेशक कहने तरीके में भी वह अपने बचाव का ख्याल रखता है। इसलिए बच्चन जी की इस बात पर अविश्वास का कोई कारण नहीं। दूसरी ओर, निराला की यही मर्दानगी विस्तृत रूप में 'शेरों की माँद में/आया है आज स्यार/जागो फिर एक बार' में मुखर है।

उन्मुक्त और उद्दाम भावधारा के कवि निराला वैसे तो जीवन भर विपत्तियों व कुरूढ़ियों से जूझते रहे, किंतु यौवन के द्वार पर जब काव्यक्षेत्र में कदम रखे, तो प्राकृतिक वसंत के सौंदर्य का आलिंगन 'जुही की कली' के रूप में किए। उनकी १९१६ ई. में प्रकाशित पहली ही कविता 'जुही की कली' उत्कृष्ट शृंगारिक रचना बनी। इसमें वसंत की एक रात प्रियतमा जुही अतृप्त अधरों की प्यास लिए बेसुध सो रही है। बाद में प्रिय मलयानिल के आलिंगनपाश में स्वयं को पाकर खिलखिला उठती है। यह कवि-जीवन में भी वसंत के आगमन की आहट और प्रेम-मिलन की उत्कट आकांक्षा की अभिव्यक्ति है -

*विजन-वन-वल्लरी पर*
*सोती थी सुहाग भरी-*
*स्नेह-स्वप्न-मग्न-अमल-कोमल-तनु तरुणी*
*जुही की कली,*
*दृग बंद किए, शिथिल पत्रांक में।*

वसंत खुद अमूर्त है। उसके आने की पहचान प्रकृति विशेषतः वनस्पतियों व जीवों में दृश्य-अदृश्य लाक्षणिक बदलावों को देखकर सुनिश्चित होती है। यद्यपि भारत में सभी छह ऋतुओं की अवधि नियत है, तथापि बाकी के आने-जाने में थोड़ा विलम्ब या शीघ्रता बेशक हो जाए, पर वसंत ठीक समय पर ही आता है। माघ शुक्ल पंचमी से वसंत का आरंभ माना जाता है, जो आगे चैत्र व फाल्गुन महीने तक रहता है। अंग्रेजी का यह फरवरी-मार्च का महीना होता है। 'नर्गिस' कविता में निराला ने वासंती सुषमा के समय का चित्र खींचा है -'चैत्र का है कृष्ण पक्ष चन्द्र तृतीया आज/उग आया गगन में, ज्योत्स्ना तनु-शुभ्र-साज।'

वसंतागमन पर चारों तरफ हरीतिमा फैल जाती है। कोंपल, पल्लव, पराग, नए पत्ते, फूल व बौर छा जाते हैं। संपूर्ण वातावरण में सौंधी गमक आच्छादित रहती है। कोयल की मधुर

गूँज सुनाई देने लगती है। जीवन-मन प्रणय-प्रेम, सौंदर्य, आशा-उत्साह की उष्मा और आनंद से भर जाता है। शुष्कता सरसता में परिवर्तित हो जाती है। सर्वव्यापी प्रकृति के कण-कण में उत्फुल्लता छा जाती है। लगता है, जैसे सृष्टि अभिसार के लिए तैयार है। निराला के शब्दों में, -'रँग गई पग-पग धन्य धरा-/हुई जग जगमग मनोहरा।' छायावादी कवि प्रकृति की गतिशीलता को चिन्हित करने और उसके मानवीकरण में पारंगत हैं। निराला इसमें सिद्धहस्त हैं और विशेष भी। निराला को वसंत की ही भाँति निर्बंधा, उन्मुक्त, स्वछंद जीवन पर बंधन स्वीकार नहीं। ऐसी ही उत्फुल्लता वाले जीवन का प्रतिरूप प्रकृति भी उन्हें दिखा रही है-

*देखता हूँ प्रकृति चित्र,-*
*अपनी ही भावना की छायाएँ चिरपोषित।*
*प्रथम जीवन में*
*जीवन ही मिला मुझे, चारों ओर।*

रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार, ''हिन्दी के छायावादी काव्य में दो प्रवृतियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय थीं। एक तो सृष्टि के रहस्यों को समझने की उत्सुकता या जिज्ञासा, जो इस आंदोलन का बौद्धिक पक्ष थी; दूसरी ऊँची से ऊँची सुंदरता को देखने की कामना या चाह, जिससे छायावादी आंदोलन का रागात्मक पक्ष विकसित हुआ।'' इस जिज्ञासा और सौंदर्य की पूर्ति वसंत से बेहतर कहाँ हो सकती है। इसलिए निराला ने वसंत का स्वागत पूरे हर्षोल्लास से किया है -'सखि, वसंत आया,/भरा हर्ष वन के/मन नवोत्कर्ष छाया।' इसी प्रकार 'यामिनी जागी' तथा 'नयनों के डोरे लाल' कविता में खिली वासंती रात का सजीव दृश्य है। 'वसंत की परी के प्रति' में कवि ने अपनी पूर्व की वासंतिक कविताओं का स्मरण किया है-'आयी है फिर मेरी 'बेला' की यह बेला/'जुही की कली' की प्रियतम से परिणय हेला।' संतुलित मौसम का ऋतुराज वसंत अमरता का भाव भरता है। निराला भी इसका लाभ लेते हुए कहते हैं -'अभी न होगा मेरा अंत/अभी अभी तो आया है/मेरे वन में मृदुल वसंत।' हालाँकि आने के साथ वसंत का जाना भी तय है और फिर किसी चीज को नकारने से उसके अस्तित्व का प्रमाण स्वतः मिल जाता है। वसंत हर चीज में कौतूहल उत्पन्न करता है, इसे कामदेव की संतान माना गया है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध वाले अपने पंचशरों से कामदेव प्रहार करते हैं, जिससे प्रणय-मिलन की अदम्य लालसा जागृत होती है -'आज भेंट होगी-/हाँ, होगी निस्संदेह/...आज मिटेगी व्याकुल श्यामा के अधरों की प्यास।' निराला की काव्यात्मक अभिव्यक्ति -'आज प्रथम गाई पिक पंचम/गूँजा है मरु विपिन मनोरम' अर्थात् कोयल की कूक के साथ वसंतोत्सव, मदनोत्सव, होलिकोत्सव के स्वागत में वाद्य, नृत्य, गायन का आरंभ होता है। श्री पंचमी के रंग-गुलाल से इसकी शुरुआत होती है। वासंती प्रकृति की शोभा-साधना उज्ज्वल, पवित्र, मधुर, रसीली ज्ञान की गंगा को निःसृत करती है

*प्रथम वर्ष की पाँख खुली है,*
*शाख-शाख किसलय तुली है,*
*एक और माधुरी घुली है*
*गीत-गंध-रस वर्णों अनुपम।*

वसंत जैसा कलरव गायन व पिक पंचम स्वर निराला की कविताओं में ध्वनि-नाद सौंदर्य के रूप में विद्यमान है जहाँ उदात्त भावसौंदर्य के साथ स्वर-ताल व हास्य-व्यंग्य भी है। वसंत आता-जाता है, पर व्यक्ति जहाँ का तहाँ रहता है। इसलिए वसंत का आना-जाना यथास्थिति वाली जड़ता का पर्याय न बन जाए - इसका बोध अत्यावश्यक है। एक निश्चित समयांतराल पर आने वाला प्रत्येक वर्ष का वसंत एक जैसा ही लगता है, किंतु वास्तव में वह एक जैसा कभी नहीं होता! निराला का आह्वान है -

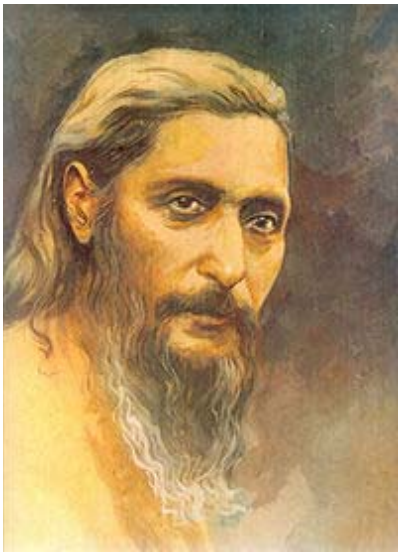

*गया दिन, आयी रात,*
*गयी रात, खुला दिन*
*ऐसे ही संसार के बीते दिन, पक्ष, मास*
*वर्ष कितने ही हजार-*
*जागो फिर एक बार।*

निराला ने वसंत का सीधे जिक्र किए बिना कई स्थानों पर ऐसे बिम्ब रखे हैं, जो वासंतिक भावनाओं-छटाओं को ही इंगित करते हैं, वसंत में ही संभव हैं। 'राम की शक्ति पूजा' में जनकपुर की वाटिका में सीता से पहली मुलाकात वाले राम के स्मृति-चित्र में वसंत मूक होकर भी मुखर है। यथा -

*देखते हुए निष्पलक, याद आया उपवन*
*विदेह का,- प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन*
*नयनों का नयनों से गोपन-प्रिय संभाषण*
*पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान पतन,*
*काँपते हुए किसलय,-झरते पराग समुदय,*
*गाते खग नवजीवन परिचय, तरु मलय वलय,*
*ज्योति प्रपात स्वर्गीय, -ज्ञात छवि प्रथम स्वीय,*
*जानकी नयन कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।*

डॉ. राम विलास शर्मा ने लिखा है-''जीवन के अंतिम दशाब्द में भी निराला के मन में उल्लास का स्रोत सूखा न था। सूखना तो दूर, जल और निर्मल हो गया है, प्रवाह अधिक संयत, फिर भी वेगपूर्ण है।'' डॉ. शर्मा के मतानुसार भी 'निराला ने जीवन के हर चरण में वसंत पर कविताएँ लिखी हैं।' यह सच है, लेकिन हर चरण में निराला के लिए वसंत का रूप-स्वरूप बदलता गया है, क्योंकि निराला भी प्रौढ़ से प्रौढ़तर होकर बदलते गए हैं। फिर निराला जैसा युगद्रष्टा कवि वसंत के भुलावे में आजन्म अटक कर भटक कैसे सकता है। वसंत प्रकृति का रुटीन रूपांतण मात्र है, इसके अतिरिक्त भी दुनियाँ में बहुत कुछ है। इसी साक्षात्कार-अभियान में 'जुही की कली' से उत्पन्न हुआ निराला का वासंती भाव विभिन्न पड़ावों और सोपानों को पार करते हुए वसंत-विछोह तक पहुँचा है, क्योंकि परिणय, प्रणय व परिहास ही जीवन के अंग नहीं होते, वरन् दुख, पीड़ा, वियोग का पतझड़ भी साथ-साथ चलता है। पतझड़ वसंत की ही एक स्थिति है। पतझड़ है, इसलिए वसंत है और वसंत है तो पतझड़ भी है।

जीवन की स्थितियाँ भी एक जैसी कहाँ रहती हैं। इसलिए विशुद्ध वसंत भी कई बार सुखदायक, मनमोहक नहीं, वरन् दुख का सेतु सिद्ध होता है। निराला ने भारतीय मनीषा के इस तत्त्व पर विश्वास व्यक्त किया है कि सुख के सभी हेतु विस्मयकारी हैं, फिर भी दुख से कोई प्यार नहीं करता; अंततः सुख ही दुनियाँ के सारे दुखों के कारक भी हैं, वसंत का आनंद भी इससे अलग नहीं -

*सुख के हेतु सभी हैं पागल,*
*दुख से किस पामर का प्यार?*
*सुख में है दुख, गरल अमृत में,*
*देखो, बता रहा रहा संसार।*

वसंत यौवन व उत्साह का पर्याय है, पर यह रहता तो सदैव ही है। जवानी में वसंत का कुछ और मतलब होता है और प्रौढ़ावस्था तथा बुढ़ापा में कुछ और; आशा में कुछ और, निराशा में कुछ और। निराला का अपना जीवन भी कंटकाकीर्ण था। वृद्धावस्था की ओर बढ़ रहा कवि उमंग-उत्साह के फीके पड़ने पर कसक व्यक्त करता है -'स्नेह निर्झर बह गया है।/रेत ज्यों तन रह गया है।'

चौबीसों घंटे घेरे रहने वाले संगी-साथी जीवन की यात्रा में अलग होते जाते हैं, तब उसे अपना अकेलापन खलने लगता है-'मैं अकेला /देखता हूँ, आ रही/मेरे दिवस की सांध्य बेला।' इतना ही नहीं, वह अपना विक्षोभ व्यक्त करता है -'हार गया जीवन रण, छोड़ गए साथी जन', और फिर न थकने वाले कवि-मन की कचोट सामने आती है -'अब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा/श्याम तृण पर बैठने को निरुपमा,/बहा रही है हृदय पर केवल अमा।' वसंत की हरियाली की खुमारी भी तो हृष्ट-पुष्ट पेड़-पौधों पर चढ़ती है, भला ठूँठ व सूखे-जले पर इसका क्या असर हो सकता है। 'ठूँठ' कविता में वे यही बताते हैं -

अब यह वसंत से होता नहीं अधीर,
पल्लवित झुकता नहीं अब यह धनुष-सा,
कुसुम से काम के चलते नहीं हैं तीर,
छाँह में बैठते नहीं पथिक आह भरकर,
झरते नहीं यहाँ दो प्रणयियों के नयन-तीर,
केवल वृद्ध विहग एक बैठता कुछ याद।

जीवन में निराशा-हताशा व्याप्त हो जाने पर बड़ा से बड़ा मन भी शंकाकुल हो जाता है। 'राम की शक्ति पूजा' में रावण की विजय हो जाने की आशंका राम के मन में घेरे रहती है -'रह-रह उठता जग जीवन में रावण जय-भय' और 'असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार-हार।' यही स्थिति निराला के अपने मन की भी है, लेकिन आत्मविश्वास बिल्कुल मरा भी नहीं है -'वह एक और मन रहा राम का जो न थका/जो नहीं मानता दैन्य, नहीं जानता विनय।' जीवन में सुख और दुख का अभिन्न संबंध है, लेकिन ऐसी स्थिति भी आती है, जब केवल वेदना ही वेदना दिखाई देती है। इस वेदना को रोकने के निमित्त कवि गाता है -'गीत गाने दो मुझे/वेदना को रोकने को।' यही नहीं, उसे 'जीवन चिरकालिक क्रंदन' लगता है और मृत्यु में मुक्ति का मार्ग दिखता हैं -'मुक्ति हूँ मैं, मृत्यु में/आई हुई, न डरो!'

आंतरिक सूनेपन की स्थिति में बाहरी तामझाम, दिखावा, प्रदर्शन से वास्तविक खुशी तो क्या, प्राथमिक सुख भी सृजित नहीं होता, फिर वंदन-अभिनंदन का औचित्य क्या है? -

*मेरे दुख की गहन अंध-*
*तम-निशि कभी न भोर,*
*क्या होगी इतनी उज्ज्वलता*
*इतना वंदन अभिनंदन?*

निराला ने क्रांति को साहित्य में नवीनता की जननी कहा है और वसंत को भी क्रांतिधर्मिता का वाहक बनाया है। एकाकीपन व निराशा के क्षणों में जीवन की निस्सारता देखकर अध्यात्म की ओर उन्मुख होते हुए उन्होंने भगवान के प्रति आत्मनिवेदन किया है, परंतु वसंत सर्वत्र विद्यमान है अपने नए-नए रूप-ढंग में। यही वसंत की ताजगी व पूर्णता का प्रमाण है और निराला के काव्य और जीवन की वैविध्यता का भी।

# प्रेम भय नहीं है - ओशो

मैं चाहता हूँ कि तुम आकाश पर ज्यादा ध्यान दो, दीवालों को भूलो। दीवालों को भूलो। दीवालें तो हैं और रहेंगी। आदमी शरीर की दीवाल में है, तब तक दीवालें रहती हैं, तब तक दीवालें नहीं मिटती हैं। कैसे मिटेंगी? तुम्हारी ही दीवाल नहीं मिट रही है तो और कैसे तुम दीवालें मिटा पाओगे? तुम भाग जाओगे हिमालय में, लेकिन शरीर से कहाँ भाग कर जाओगे? अच्छा यही हो कि तुम दीवालों को ज्यादा महत्त्व न दो, उपेक्षा करो। रहने दो दीवालें आँगन के चारों तरफ, कोई चिंता की बात नहीं है। लेकिन आँगन आकाश की तरफ खुला है, आकाश आँगन की तरफ खुला है, उसे स्मरण करके उसी द्वार से मुक्त हो सकोगे।

मेरे मन में प्रेम का बड़ा सम्मान है। और मैं उस आदमी को अभागा मानता हूँ जिसके जीवन में प्रेम का अनुभव नहीं है। जिसने प्रेम ही न जाना वह परमात्मा को नहीं जान पाएगा। लाख करे उपाय।

फिर उसके उपाय बुनियादी रूप से गलत होंगे। क्यों गलत होंगे? वह उपाय ही क्यों करेगा? उसके उपाय भय पर आधारित होंगे या लोभ पर। दुनिया में दो ही चीजें कारगर हैं- या तो प्रेम या भय। लोभ भय का ही अंग है, दान प्रेम का अंग है। या तो लोग भयभीत होकर परमात्मा की तरफ जाते हैं। महात्माओं को यही सस्ता मालूम पड़ा कि लोगों को भयभीत कर दो, डरा दो। नरक! कहीं भी नहीं है। नरक और अगर कहीं है, तो तुम्हारे भीतर है। बाहर तो नहीं है। उसका कोई भूगोल नहीं है। लेकिन डरा दो कि नरक में सड़ोगे अगर भगवान की प्रार्थना न की।

अगर मंदिर न गए, तो नरक की आग में डाले जाओगे, नरक के कीड़े बनोगे। और नरक के खूब वीभत्स चित्र खींचे। उनसे लोग घबड़ा गए। और जब ये चित्र खींचे गए- आज से पाँच हजार साल पहले- तब लोग बड़े भोले-भाले थे, बहुत घबड़ा गए होंगे। आज का आदमी तो इतना भोला-भाला नहीं, वह तो कहेगा- होगा जब देखेंगे और अभी कौन मरे जा रहे हैं और मर भी गए तो फिर वहाँ देख लेंगे। आखिर हम तो वहाँ रहेंगे, सब नरक के लोगों को इकट्ठा कर लेंगे, ऐसा कोई आसान थोड़े ही है। कुछ न कुछ उपद्रव खड़ा करेंगे- हड़ताल, घेराव, उलट देंगे। सत्ता को वहाँ, आज का आदमी तो चालाक है।

लेकिन जब नरक की कहानियाँ गढ़ी गई तब आदमी बड़ा सरल था। आदमी प्रभावित हो जाता था। निर्दोष था आदमी। सीधा-सादा था, भोला-भाला था। जैसे छोटे बच्चे होते हैं। छोटे बच्चे को भूत की कहानी सुना दो, वह कहता है, अब मैं सो नहीं सकता। वह अपनी माँ के पास ही बैठा है। वह कहता है, अब मैं जा नहीं सकता, अंधेरे में मुझे डर लगता है। अब माँ लाख उसे समझाए कि यह सिर्फ कहानी थी, मगर अब उसकी समझ में नहीं आता कि कहानी थी। अब वह कहता है, मैं तेरे पास ही सोऊँगा। अब उसे छोटी-छोटी चीज डराती है। पाँच हजार साल पहले लोग भोले-भाले थे, प्राकृतिक थे। तब उन्हें खूब डरवा दिया, चालबाज लोगों ने, बेईमान लोगों ने। इसको मैं बेईमानी कहता हूँ। इस भय के कारण वे जाकर थरथर काँपने लगे, मंदिरों में प्रार्थनाएँ करने लगे, पूजा करने लगे, अर्चना करने लगे, घुटनों पर खड़े हो गए। लेकिन इसके पीछे भय था।

और ध्यान रखना, जहाँ भय है वहाँ प्रेम पैदा नहीं होता। भय और प्रेम विपरीत हैं। तुमने भगवान की प्रार्थना तो की, लेकिन यह प्रार्थना के पीछे भय था सिर्फ। तुम जो भगवान को मानते हो, वह तुम्हारे भय का ही विस्तार है। और अगर भय का विस्तार है तो परमात्मा से तुम्हारा कभी संबंध न हो सकेगा। उससे संबंध तो प्रेम के कारण हो सकता है। तुम जीवन के दुखों से घबड़ा गए। जीवन की परेशानियों से घबड़ा गए, चिंताओं से घबड़ा गए, मौत से घबड़ा गए, मौत आती है, इसलिए तुम जाकर हाथ जोड़ कर खड़े हो गए। तुम्हारी प्रार्थना झूठी है। यह प्रार्थना है ही नहीं।

एक और प्रार्थना है जो जीवन के आनंद से पैदा होती है। जो जीवन में सुख, जीवन की शांति, जीवन में खिलते अनेक फूलों के प्रति कृतज्ञता से पैदा होती है। तुम्हें परमात्मा ने जीवन दिया है, इसलिए तुम धन्यवाद देने गए, यह और तरह की प्रार्थना है। और परमात्मा तुम्हें कल मार डालेगा, मौत आ रही है, इसलिए तुम प्रार्थना करने गए, यह और ही तरह की प्रार्थना है। ये बिलकुल अलग-अलग

प्रार्थनाएँ हैं। पहली प्रार्थना जो तुमने परमात्मा के पास जाकर की कि तूने मुझे जीवन दिया, मैं धन्यभागी हूँ, तूने मुझ पर इतनी कृपा की, इतना प्रसाद बरसाया, तूने चाँद-तारे बनाए, तूने इतने फूल खिलाए, तूने जगत को इतनी हरियाली से भरा, तूने इतने प्यारे लोग बनाए, तूने मुस्कुराने की सुविधा दी, तूने अदभुत आँसू बनाए- इस सबके लिए तुम धन्यवाद देने गए हो, शिकायत करने नहीं गए हो, यह प्रार्थना अलग ही बात है। यही प्रार्थना है। तुम कहने गए हो कि मैं अनुगृहीत हूँ, मेरे हजारों धन्यवाद स्वीकार कर! मैं कैसे उऋण हो सकूँगा तुझसे। मेरी कोई पात्रता नहीं थी, तूने इतना अपूर्व जीवन दिया, मुझ अपात्र पर इतनी अनुकंपा। इस भेद को फर्क करना। मैं एसा ही धर्म सिखाता हूँ जो तुम्हारे अहोभाव से उठे।

फिर एक धर्म है जो भय पर खड़ा है। वह कहता है- डरो! सब गलत है! यह भी पाप, वह भी पाप। यह भी मत करो, वह भी मत करो। वह तुम्हें इतना संकीर्ण कर देता है और इतना घबड़ा देता है कि तुम जाकर काँपने लगते हो मंदिर में। तुम्हारे कंपन में आनंद नहीं है। कैसे होगा? तुम्हारे कंपन में अहोभाव कैसे होगा? गहरे में तुम ऐसे परमात्मा को प्रेम कैसे कर सकोगे? गहरे में तुम घृणा करोगे। कहो कुछ भी, लेकिन गहरे में अगर मौका मिल जाए तो ऐसे परमात्मा की गर्दन दबा दोगे। क्यों उसने नरक बनाया? क्यों इतना दुख? क्यों इतनी कामवासना का जाल फैलाया? क्यों इतने बंधन? नहीं, ऐसे परमात्मा को तुम आनंद से स्वीकार नहीं कर रहे हो।

तुम्हारे तथाकथित धर्मगुरुओं ने शोषण किया है। तुम्हारे भय का शोषण किया है। भय के नाम पर नरक और फिर तुम्हें लोभ भी दिया है कि अगर हम जो कहते हैं वैसा करोगे, तो स्वर्ग का पुरस्कार। यह सामान्य प्रक्रिया है। लोगों को जबरदस्ती किसी दिशा में लगाने के विपरीत जाओगे तो दंड पाओगे, अनुकूल रहे तो पुरस्कार पाओगे। यह लोभ और भय के बीच आदमी को फँसाना है।

मैं तुमसे कहना चाहता हूँ : न तो कोई नरक है, न कोई स्वर्ग है। नरक और स्वर्ग चित्त की अवस्थाएँ हैं। अगर तुमने प्रेम किया तो तुम स्वर्ग में हो, अगर तुमने घृणा की तो तुम नरक में हो। तुम किस नरक की कल्पना कर रहे हो जहाँ आग जलेगी? क्रोध में रोज जलती है। ये तो प्रतीक हैं। और जब तुम किसी को प्रेम से कुछ देते हो, भेंट करते हो, तब तुम स्वर्ग में हो जाते हो। तब स्वर्ग की शीतल हवा बहती है। तब स्वर्ग की पावन सुगंध तुम्हारे पास होती है। दो और देखो। किसी को सताओ और नरक! किसी को बचाओ और स्वर्ग।

तुमने बचाने का सुख नहीं जाना। कोई नदी में डूब रहा हो और तुम जाकर बचा लेते हो। एक आह्लाद भर जाता है। तुमसे भी कुछ सार्थक हुआ। तुम्हारे जीवन में एक कृतार्थता का भाव होता है।

या तुम एक गीत रचो जो भी इस गीत को गुनगुनाएगा, खुशी से भरेगा, इस कल्पना से ही तुम्हारे भीतर बड़ा आनंद होता है। इसलिए स्रष्टा आनंदित रहते हैं। कोई चित्र बनाता है, कोई मूर्ति बनाता है, कोई गीत रचता है, कोई संगीत छेड़ता है। क्या आनंद होगा संगीत छेड़ने का? कोई आनंदित हो जाएगा, कोई डोलेगा मस्ती में। तुम बाँट रहे हो कुछ।

प्रेम बाँटना है, प्रेम दान है। प्रेम देना है और जब तुम बिना माँगे देते हो, बिना कुछ माँगने की शर्त लगा कर देते हो, तो ऐसे प्रेम धीरे-धीरे प्रार्थना बनने लगता है। जब तुम सिर्फ देते हो बेशर्त, उस दिन तुम्हारा प्रेम बड़ी ऊँचाइयाँ लेने लगता है और इसी प्रेम से एक दिन परमात्मा का अनुभव शुरू होता है।तुम्हारे प्रश्न का कारण मैं जानता हूँ। तुम डर रहे हो। तुम्हारे महात्माओं ने सिखाया है - प्रेम से बचना, प्रेम बँधन है। प्रेम में फँसे कि गए। प्रेम में उलझे कि संसार में पड़े। मैं तुमसे कहना चाहता हूँ - प्रेम बँधन है या मुक्ति, तुम पर निर्भर है। प्रेम अपने में न बँधन है, न मुक्ति है।

प्रेम तो ऐसा समझो कि राह के बीच में पड़ा हुआ एक पत्थर है। चाहो तो इसकी वजह से रुक जाओ, और चाहो तो इस पर चढ़ जाओ, इसकी सीढ़ी बना लो। प्रेम की सीढ़ी बनाओगे तो परमात्मा में पहुँच जाओगे। और पत्थर देख कर वहीं बैठ गए रोकर कि अब क्या करना, अब तो अटक गए, तो नरक में पड़ जाओगे।

# चिर नर–नारी द्वंद्व के प्रतीक जाबाला–सत्यकाम

*सुधांशु चतुर्वेदी*

जाबाला-सत्यकाम का भारतीय मिथक सम्पूर्ण धरातल पर नारी की कदर्थना, पुरुष के वर्चस्व एवं कामतत्त्व (मार) की विश्व-विजय का मिथक है। अनंग भी युगात्मा का अपरिहार्य अंश है; एक यथार्थ, जो सुखात्मक एवं दुःखात्मक दोनों हैं। एक वेदना भी, एक संवेदना भी,

जिसके केन्द्र में नारी है, जो वेदना भी भोगती है युग कोई भी रहा हो कृत (सत्), त्रेता, द्वापर या कलि नारी ने केवल कामज्वाल की आग को ही पिया है। उसी आग से उसने मानव को सन्तति की परम्परा में अमरता प्रदान करते हुए भी अपनी ही देह से उत्पन्न सन्तान के प्रश्नों का अनुत्तरित दंश ही झेला है। श्याम-कर्ण घोड़ों की खातिर बार-बार बलि का बकरा बनने वाली जाबाला किस प्रकार अपने ही स्वामी द्वारा छली जाती है। श्रीमत्त, सशक्त और राजसी पुरुषों की तल्प पर रौंदी जाती है तथा कामाचार के प्रत्युत्फल स्वरूप उत्पन्न अपने ही पुत्र सत्यान्वेषी सत्यकाम के इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाती है कि उसका पिता कौन है? किसके वीर्यांश का साकार विश्व-विभु है नारी की मोहावरित अथवा संभ्रमित इस विवशताजन्य अनुत्तरित स्थिति का मिथक है जाबाला-सत्यकाम मिथक। पूरी तरह तो नहीं, हाँ, थोड़ा-बहुत मिलता-जुलता मिथक पाश्चात्य, 'इडीपस' का भी है। लेकिन 'जाबाला-सत्यकाम' मिथक अधिक भास्वर, शाश्वत, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, सर्वव्यापक, काल, स्थान एवं व्यक्ति निरपेक्ष युग-सत्य का मिथक है, जो 'धर्म' और 'काम' के सत्यान्वेषण पर प्रकाश डालती है। सनद रहे, भारतीय संस्कृति का आप्तवाक्य है 'धर्मार्थकाममोक्षः' धर्म से अर्थ (सामाजिक कर्माश्रित दायित्व निर्वाह) के रास्ते 'काम' तत्त्व के भोग तक की महायात्रा। यही मोक्ष है। इसमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के क्रम को बदला नहीं जा सकता। इस क्रम में विपर्यास की अनुमति नहीं है। अगर विपर्यास किया गया तो सब कुछ असंतुलित हो जायेगा। गुड़-गोबर हो जायेगा। यही मानव-सत्य है। यही प्रकृति का सत्य है। यही जैविक सत्य है। यही सत्यकाम का सत्य है। सत्यकाम मैथुनी सृष्टि का प्रतीक है। मिथुन जाबाला करती है। जाबाला चाहे स्वेच्छया रही हो या परिस्थितिजन्य युगबोध तथा पुरुष-वर्चस्व-प्रधान युगों की अस्मिता के कारण उनके दबाव में रतिप्रीता रही हो सच्चाई यही है कि वह 'मातृत्व' लाभ करती है। 'मातृत्व-प्राप्ति' नारी का चरम आदर्श भी है और नारी की चाहत भी। लेकिन इसके लिए हर नारी को गुजरना पड़ेगा काम अथवा अनंग के ही रास्ते से। अनंग का सत्य सृष्टि का सत्य है। यह सत्य अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। इस रहस्य को केवल भुक्तभोगिनी नारी ही जानती है। जाबाल तो इसलिए सत्यकाम के प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाती क्योंकि वह एक-दो नहीं अनेक राजाओं एवं श्रीमत्तों की अंकशायिनी बनती है। अपने स्वामी की शर्त को पूरा करने के लिए बार-बार देग की तरह कामाग्नि के चूल्हे पर चढ़ाई जाती है। वह नहीं बता सकती कि किस दौर में, किस कामपुंज से सत्यकाम का जन्म हो गया। वह तो केवल मातृत्व की वेदना को जानती है। हर युग-पुरुष स्वयं को ही उस पुत्र का जनक समझता है। समझकर भी स्वीकार नहीं कर पाता। अनंग तत्त्व का यह खेल सृष्टि की संरचना के आरम्भ से ही चला आ रहा है। इस खेल का अन्त नहीं है। न तो इस खेल के पात्रों के ज्वलन्त प्रश्नों का कोई उत्तर है, न ही कोई समाधान। फिराख गोरखपुरी ने कहा है

*''उलझी थी जो कभी आदम के हाथों*
*वह गुत्थी आज तक सुलझा रहा हूँ।''*

*'गालिब' ने कहा था*

*''वह पर्दा छोड़ा है उसने*
*कि उठाये न बने, बिन उठाये न बने।''*

जयशंकर प्रसाद ने 'कामायनी' में इस युग-सत्य का बड़ा भव्य वर्णन किया है। प्रसाद ही कह सकते थे और कहा भी है

''पुरुषत्व मोह में तुम भूल गये कुछ सत्ता है नारी की।
समरसता है संबंध बनी, अधिकार और अधिकारी की॥''

जाबाला-सत्यकाम के मिथक में समरसता-भाव का अभाव रह जाता है। इसीलिए जाबाला अन्ततः भटकती रह जाती है और सत्यकाम भी प्राश्निक बना रह जाता है। फ्रायड पश्चिम

मुक्त होने का समाधान नहीं दे पाता।

साहिर ने कभी कहा था
औरत नेजनम दिया मर्दों को,
मर्दों ने उसे बाजार दिया।
जब जी चाहा कुचला, मसला,
जब जी चाहा दुत्कार दिया॥''

यूनानी मिथक में एक प्रसंग आता है। एक जिज्ञासु किन्तु अध्यवसायी एवं महात्यागी अध्यात्मविद् पुरुष था। उसने अपनी साधना से यूनान की पूज्या देवी को प्रसन्न कर लिया। देवी प्रकट हुईं, वर माँगने को कहा। साधक ने वर माँगा ''माता, मुझे 'सत्य' के दर्शन करा दो।'' देवी चिंहुक उठी। साधक को बहुत समझाया कि वह यह वर न माँगकर कुछ और माँग ले। परन्तु साधक नहीं माना। अड़ गया, बोला ''माता वर देना है तो यही वर दो मुझे सत्य के दर्शन करा दो।'' अन्ततः विवश होकर देवी ने वर दे दिया। देवी ने कहा ''सामने सात पर्दे हैं, अपनी सतत साधना के बल पर जब तुम इन परदों को भेद लोगे तो तुम्हें सत्य के दर्शन हो जायेंगे।'' यह कहकर देवी अन्तर्ध्यान हो गयीं। साधक पुनः साधना में जुट गया। उसे सत्य का शोधन करना था। हर दिन साधना के अन्तःपुरश्चारण कर्म के पश्चात् वह एक पर्दे को भेद देता था। एक के बाद एक छह पर्दे उसने भेद दिये। सातवाँ दिन अन्तिम पर्दा। साधक मन ही मन बहुत उत्सुक भी था और उत्तेजित भी। उसने बड़े मनोयोग से अन्तिम साधना-कर्म किया। साधना-पुरश्चारण कर्म के पश्चात् जब उसने सातवाँ पर्दा भेदा तो उसके चर्म-चक्षुओं के समक्ष था लाखों-करोड़ों जाज्वल्यमान सूर्यों के प्रकाश से भी तीव्रतर प्रकाश प्रकाश इतना घनीभूत तथा मार्तण्ड था कि साधक की आँखें बुरी तरह चौंधिया गयीं। साधक उस अन्यतम प्रकाश की चौंध को बर्दाश्त नहीं कर पाया। वह अंधा हो गया। उसके नेत्रों की ज्योति महाज्योति में विलीन हो गयी। वह विवेकशून्य होकर, किंकर्तव्यविमूढ़ हो, अपने नेत्रों को अपनी हथेलियों से ढँककर विलाप करने लगा। वह घनीभूत अंधकार के महाकूप में सदा-सदा के लिए जा पड़ा था। कहते हैं कि आज भी वह साधक नेत्रज्योतिविहीन होकर, विवेकशून्य हो प्राश्निक बन भटक रहा है। पश्चिम का यह मिथक अत्यधिक अर्थपूर्ण है। प्रतीकपरक है। जाबाला-सत्यकाम का मिथक भी ऐसा ही है। सम्भवतः रामधारी सिंह 'दिनकर' ने ठीक ही कहा है

*''सत्य ही है गलती हिमशिला*
*गठन देह की खोकर*
*पर हो जाती वह कितनी पावन*
*पयस्विनी होकर॥''*

भारतीय संस्कृति में नारी को गंगा कहा गया है। वह गंगा की तरह पूत, पावन और पवित्र है। सत्यकाम संभवतः नारी के इस मातृत्व दर्शन के सत्य को पहचान लेता है। यद्यपि पुरुष-प्रधान समाज नारी को बलात् कामलुलिता नारी ठहराने का ही हर युग में प्रयास करता रहा है, परन्तु सत्यकाम नारी के मातृ-स्वरूप को स्वीकारते हुए अन्ततः कामचेतना के भोगपक्ष को स्वीकारने तथा महत्त्व देने के लिए तैयार नहीं है। 'युगात्मा' के सत्यकाम का दर्शन यही है जो अन्ततः जाबाला के मातृस्वरूप में प्रणतपाद होता है। ज्योतिपुरुष भी प्रेम तत्त्व के सौन्दर्य एवं शुद्धत्व की छवि नारी के समर्पण, उसकी शालीनता, ममत्व, मोह, वात्सल्य एवं वेदना में ही देखकर प्रेयस् तत्त्व को ही नमन करता है।

**यद्यपि पुरुष-प्रधान समाज नारी को बलात् कामलुलिता नारी ठहराने का ही हर युग में प्रयास करता रहा है, परन्तु सत्यकाम नारी के मातृ-स्वरूप को स्वीकारते हुए अन्ततः कामचेतना के भोगपक्ष को स्वीकारने तथा महत्त्व देने के लिए तैयार नहीं है। 'युगात्मा' के सत्यकाम का दर्शन यही है जो अन्ततः जाबाला के मातृस्वरूप में प्रणतपाद होता है। ज्योतिपुरुष भी प्रेम तत्त्व के सौन्दर्य एवं शुद्धत्व की छवि नारी के समर्पण, उसकी शालीनता, ममत्व, मोह, वात्सल्य एवं वेदना में ही देखकर प्रेयस् तत्त्व को ही नमन करता है।**

उन्मुक्त और उद्दाम भावधारा के

# भारतीय राजनीति में अपराधीकरण

❒ प्रेमचन्द्र छाछर

अर्थशास्त्र में एक ग्रेशम नियम है, उसके अनुसार खराब सिक्के अच्छे सिक्कों को चलन से बाहर धकेल देते हैं। ठीक वैसे ही चरित्र, चिन्तन, नीति और सिद्धान्त के धनी नागरिकों को भ्रष्ट और गुण्डा तत्वों ने राजनीतिक क्षेत्र से बाहर धकेल रखा है। आज की राजनीति सचमुच गुण्डा तत्वों की चरागाह बनती जा रही है। राजनीति में अपराधीकरण का बोलबाला केवल इसलिए है, क्योंकि देष की सज्जन शक्ति उदासीन है, कायर है, विवश है और विलाप कर रही है कि कोई उसकी रक्षा करे। इसका सबसे बड़ा कारण है कि आज देशवासियों ने आतंकवाद, अलगाववाद, हिंसा, लूट, हत्या, विश्वासघात और भ्रश्टाचार के साथ जीना सीख लिया है। यही नहीं सार्वजनिक जीवन में विश्वासघात चतुरता का पर्यायवाची समझा जाने लगा है। इसे विडम्बना ही कहा जायेगा कि लोकतंत्र की नियत्रंक लोकशक्ति उदात्त जीवन मूल्यों के प्रतिबद्ध लोग न होकर असामाजिक, बाहुबली और गुण्डातत्व हो गये हैं।

यह विचारणीय है कि आज की चुनावी राजनीति में अपराध से अपराध लड़ेगा तो गुण्डे और अपराधी ही जीतेंगे, सज्जन और सदाचार नहीं। देशवासी जिस वातावरण में जीने के लिए अभिशप्त हैं, उसमें स्पर्धा, ईर्ष्या, प्रतिद्वंद्विता और शत्रुता तो है, किन्तु सहयात्रा, सद्भाव, सहकार्य और पारस्परिकता नहीं है। भारत में लोकतंत्र के नाम पर जो कुछ चल रहा है, वह लोक व्यवस्था को बनाता कम है, बिगाड़ता ज्यादा है। लोग चुनकर आते हैं, किन्तु वे वास्तव में लोगों का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। आज देश के सामान्य नागरिकों को जो बात कांटे की तरह चुभती है, वह राजनीति में ऐसे लोगों का होना, जो भ्रष्टाचार, चरित्रहीनता व गुण्डागर्दी के लिए न्यायालय से दोशी करार दिये जा चुके हैं और जिन्हें सजा हो चुकी है, फिर भी जनता उनके दल को सबसे अधिक सीटों पर जिताती है। यह सभी जानते है कि बिहार के एक पूर्व मुख्यमंत्री को भ्रष्टाचार के लिए अदालत से सजा हो चुकी है, जेल में थे और जमानत पर बाहर आकर चुनाव में अपनी पार्टी को भारी जीत दिलाई। ये कैसा अद्भुत लोकतंत्र है? न्यायालय भ्रष्टाचार का दोषी पाये और मतदाता उनकी पार्टी को सत्तारूढ़ कर दें। जनता जनार्दन को निश्चित रूप से इस पर गंभीर चिन्तन की आवश्यकता है और चिन्ता भी, तभी लोकतंत्र सुदृढ़ हो सकेगा।

एक बहुत पुराना सुभाषित है, ''महाजनों येन गतः सः पंथाः'' अर्थात जिस रास्ते पर हमारे महापुरूष और जननायक चले, वही रास्ता अनुकरणीय है। यह सुभाषित अपने समय में बहुत सोचकर लिखा गया होगा, परन्तु आज इस सुभाषित का संदर्भ तथाकथित महापुरूषों के कुकर्मों के कारण सारहीन हो चुका है। आज के 'महाजनों' का यदि हम अनुसरण करें और उसे प्रमाण माने तो कदाचार, चरित्रहीनता, असत्य, भ्रष्टाचार, घूस, दलाली ही जीवन का सत्य और मर्म लगेगा। ऐसी दशा में मर्यादा, चरित्र, सत्य, सदाचार और पवित्रता का संदर्भ ईश्वरीय कर्म लगेगा और यह अनुभूति होगी कि यह सब सामान्य मनुष्य के बूते की बात नहीं है। यह तो बस पैगम्बरों और ईश्वरीय अवतारों जैसे मानवों के लिए है। इसी दूषित सोच के कारण यहां नैतिक्ता और चरित्र का दुर्भिक्ष दिखाई देता हैं।

एक और बात जो देश की राजनीति में प्रचलित है कि यहां मरते दम तक राजनेता सत्ता में बने रहना चाहते हैं और सत्ता से विरक्ति नहीं कर पाते। ऐसे राजनेता बहुतांश में हैं, जो तीन चार दशकों तक सक्रिय राजनीति में विधायक, सांसद और मंत्री रह चुके है और अब ७५-८० वर्श की आयु पार कर चुके हैं, जिन्हें पकड़कर खड़ा किया जाता है या बैठाया जाता है, वे भी कुछ और नहीं तो अपनी आयु के अन्तिम पड़ाव पर राज्यपाल, राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति बनने की आकांक्षा पाले रहते हैं। वहीं पाश्चात्य देशों के उदाहरण अनुकरणीय हैं कि जिस विन्सटन चर्चिल ने महायुद्ध में इंग्लैण्ड को जीत दिलाई थी, उसे वहां के मतदाताओं ने अगले चुनाव में हराकर यह संदेश दिया था कि यह आवश्यक नहीं है कि जो जननायक युद्ध कौशल में प्रवीण हो, वह देश के निर्माण और सृजन में भी कुशल हो। इटली में गेरी बाल्दी ने तो इससे भी बड़ा उदाहरण प्रस्तुत किया। इटली को आज़ाद कराने के बाद गेरीबाल्दी ने स्वयं घोषणा की कि ''मेरा कार्य पूर्ण हुआ। मैं युद्धकला विशारद हूँ, किन्तु अब राष्ट्र निर्माण वह करे, जो निर्माण की कला जानता हो'' और फिर वह वीर अपने पैतृक गांव की कुटिया में अज्ञातवास में चला गया था। कुछ ऐसी ही कथा फ्रांस के दिगाल की भी है। द्वितीय विश्वयुद्ध में फ्रांस के नागरिक दिगाल के पराक्रम से अभिभूत थे। परन्तु दिगाल ने उसे अपने पक्ष में भुनाया नहीं । वे यह कहते हुए अपने कृषि फार्म पर चले गये थे कि '' मेरे देश ! जब तुम्हें जरूरत पड़े मुझे फिर बुला लेना। मैं आ जाऊंगा'' और जब कभी देश को जरूरत पड़ी दिगाल आये भी। युद्ध की अशान्ति और राजनीतिक अस्थिरता के दौर में समाधान तक दिगाल सदा देशवासियों के साथ रहे। परन्तु अपने देश के 'महाजनों' और मतदाताओं की सोच पश्चिमी देशों से भिन्न है। यहां देश का राजनीतिक नेतृत्व युद्ध जीत जाने पर पूरी ताकत से इस पराक्रम को चुनाव में भुनाने से नहीं चूकेगा और जनता भी इस पर विचार किये बिना कि नेता की विषेशज्ञता निर्माण कला में है या युद्ध कौशल में, भावावेश में उसे सिर पर बैठा लेगी और सत्तारूढ़ कर देगी।

वर्तमान राजनीतिक दशा और दिशा के विपरीत अमरीका, इंग्लैण्ड, जापान आदि कोई भी देश ले लें। वहां के नागरिक अपने नायक के

विषय में बहुत ही कठोर होते हैं। यद्यपि निजी चरित्र की दृष्टि में उन्हें बहुत ही हीन दृष्टि से देखा जाता है, क्योंकि इन देशों में स्वछन्द यौनाचार पर किसी को कोई आपत्ति नहीं होती। किन्तु इस सब चरित्रहीनता की अनुमति वहां का आम आदमी अपने सत्ता के शिखर पर बैठे नायक को नहीं देता। इन पाश्चात्य देशों का समाज यह सब करने की छूट सामान्य नागरिक को तो देता है, परन्तु जननायक को नही। हमारे देश के लोग जाति, धर्म, सम्प्रदाय, क्षेत्र के नाम पर अपने जननायकों का चुनाव करते हुए उनकी नीति, सिद्वान्त, चरित्र और चिन्तन की परख भूल जाते हैं। बस जाति, धर्म के नाम पर गलत लोगों को भी अपना नायक चुन लेने में कोई संकोच नहीं करते। यह एक सच्चाई है कि अपनी जाति, बिरादरी का जो जितना भ्रष्ट, अनैतिक, बाहुबली और माफिया होता है, उसे अपनी जाति का उतना ही अधिक समर्थन मिलता जाता है। भारतीय लोकतंत्र की सबसे बड़ी त्रासदी यह भी है कि जिस जातिवाद को डा० अम्बेडकर समूल नष्ट करना चाहते थे और जिसे लोकतंत्र विरोधी मानते थे, वही जातिवाद आज भारतीय लोकतंत्र का नेतृत्व कर रहा है। आज तो जातिवाद को भारतीय लोकतंत्र ने ऐसा पुख्ता कर दिया है कि अब अनगिनत अम्बेडकर और उनके जैसे समाज सुधारक उसका बाल भी बांका नहीं कर सकते।

जनतांन्त्रिक सुधार हेतु गठित संस्था (ए०डी०आर०) के अनुसार वर्ष २०१४ के लोकसभा चुनाव में अपराधी प्रवृत्ति के १८६ सांसद जीतकर आये हैं, जिनमें से ११२ ने नामांकन के समय अपने दाखिल शपथ पत्रों में अपने ऊपर हत्या, हत्या के प्रयास, अपहरण और बलात्कार जैसे गम्भीर मामले न्यायालयों में लम्बित स्वीकार किये हैं। वर्ष २००६ के लोकसभा चुनाव में १५८ सांसद अपराधी प्रवृत्ति के जीतकर आये थे, जो कुल सांसदों का ३० प्रतिशत था। परन्तु वर्ष २०१४ में तो यह बढ़कर ३४ प्रतिशत हो गया। अर्थात आज देश की संसद में प्रत्येक तीसरा सांसद अपराधी प्रवृत्ति का है। यही नहीं देश में राज्यों की विधानसभाओं में भी ऐसे अपराधी प्रवृत्ति के लोगों की संख्या कम नहीं है। ए०डी०आर० के आंकड़ों के अनुसार उ०प्र० विधानसभा २००७ के कुल निर्वाचित विधायकों में ३५ : विधायक आपराधिक प्रवृत्ति के थे, यह आंकड़ा २०१२ में बढ़कर ४७: हो गया। इसी प्रकार धनाढ्य लोगों के धनबल के सहारे उ०प्र० विधानसभा में पहुँचने की स्थिति भी स्पष्ट करती है कि पैसा खर्च कर टिकट प्राप्त करने व चुनाव जीतने का सिलसिला भी जोर पकड़ता जा रहा है। उ०प्र० की वर्तमान विधानसभा में कुल ४०३ विधायकों में से २७१ विधायक करोड़पति हैं। राजनीतिक दलों की प्रवृत्ति भी ऐसी ही हो गयी है कि वे ऐसे प्रत्याशी को चुनाव में उतारने को आतुर रहते हैं, जो आर्थिक रूप से बहुत मजबूत हो, भले ही वह गुण्डा, अपराधी या माफिया हो। आज राजनीतिक दलों और मतदाताओं की समन्वित सोच यही है कि जो जितना बड़ा अपराधी प्रवृत्ति का व्यक्ति होगा, उतनी ही उसकी जिताऊ क्षमता ज्यादा होगी। पिछले १० वर्षो के आंकड़ो पर यदि गौर किया जाए तो दागी प्रत्याशियों की चुनाव जीतने की संभावनाएं, उन प्रत्याशियों से ज्यादा हो गयी है, जिनका कोई आपराधिक इतिहास नहीं होता। दागी प्रत्याशियों की जिताऊ क्षमता २००४ के आम चुनाव में केवल ३: थी, जो बाद में २.३७ गुना तक बढ़ गयी है। आपराधिक इतिहास वाले प्रत्याशियों की लोकसभा व विधानसभा में उपस्थिति चिन्ताजनक स्तर तक बढ़ जाना, लोकतंत्र के लिए अशुभ है और दुर्भाग्य से ऐसी परिस्थिति निर्माण हो गयी है, जिसके चलते अच्छे चरित्र व चिन्तन के लोगों के राजनीति में आने की संभावनाएं लगातार क्षीण होती दिख रही हैं। लोकतंत्र के लिए इससे बड़ी कोई विडम्बना नहीं हो सकती कि जो अपराधी तत्व पुलिस के डर से छिपते छिपाते, भागते फिरते हैं, वही लचर चुनाव कानूनों की आड़ में चुनाव लड़कर 'माननीय' हो जाते हैं। इसके लिए कोई एक दल दोषी नहीं है, बल्कि लगभग सभी राजनीतिक दलों की स्थिति कमोबेश एक सी ही है। हर राजनीतिक पार्टी को जिताऊ उम्मीदवार चाहिए तो भला कैसे खत्म हो राजनीति की यह दल-दल ?

बिहार की यह घटना भी लोकतंत्र को शर्मसार करती है कि आर०जे०डी० के एक पूर्व सांसद बाहुबली नेता हत्या के मामले में जेल में थे और जब जमानत पर जेल से बाहर आये तो सैकड़ों गाड़ियों का काफ़िला जेल के गेट पर बाहुबली नेता का स्वागत करने पहुँच गया और ढ़ोल नगाड़ों व नारों के साथ होहुल्ला करते हुए, उन्हें उनके घर तक पहुँचाया गया । उनके स्वागत जुलूस से ऐसी प्रतीती हो रही थी, जैसे कि कोई वीर योद्धा धर्म युद्ध जीत कर आ रहा हो। किसी अपराधी प्रवृत्ति के नेता का इस हद तक महिमा मण्डन लोकतंत्र का मज़ाक है। चिरकाल से प्रतीक्षित चुनाव सुधारों से ही परिस्थितियां बदल सकती हैं, परन्तु यह दुखद है कि राजनेता इस मुद्दे पर सत्ता प्राप्ति के लोभ व अन्यान्य कारणों से चुप्पी साधे रहते हैं। अस्तु चुनाव सुधारों के लिए सभी सरकारों के कार्यकाल में बहुत बहस हो चुकी है, परन्तु यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि किसी सरकार में न तो इसके लिए इच्छाशक्ति रही, न ही साहस। लोकतंत्र को मजबूत करने के इस कारक पर निर्वाचित सरकारें राजनीतिक कारणों से सटीक व ठोस निर्णय लेने से बचती रही हैं। चुनाव आयोग व मतदाताओं को इस पर गंभीरता से सोचना होगा कि क्या अपराधियों और गुण्डा तत्वों द्वारा संचालित लोकतंत्र जनता के हितों की रक्षा कर सकता है?

देश में जब भी चुनाव होते हैं, चुनाव आयोग का सारा ध्यान केवल नव मतदाता के पंजीकरण और चुनावों को सफलतापूर्वक सम्पन्न कराने में लग जाता है, परन्तु जो मुख्य मुद्दा है कि चुनावों में अच्छे लोग कैसे जीतकर आयें और अपराधी प्रवृत्ति के लोगों को चुनाव लड़ने से कैसे रोका जाये, वह चुनाव आयोग द्वारा हासिये पर खिसका दिया जाता है। क्या चुनाव आयोग भारतीय संविधान की उद्देशिका में जिस ''हम भारत के लोग'' से संविधान की शुरूआत की गयी है, उस अवधारणा को वास्तविकता में लागू करा सकेगा? क्या एक आम नागरिक में, बढ़ते धनबल व बाहुबल के आगे चुनाव लड़ने का साहस आ सकेगा? कदाचित आज की परिस्थितियों में यह संभव प्रतीत नहीं होता ।

अतः अब समय आ गया है कि देश की जनता धर्म और जाति से ऊपर उठकर देश के नीति नियन्ताओं का चुनाव करे और लूट, हत्या, अपहरण, बलात्कार, घूस और भ्रष्टाचार में संलिप्त राजनेताओं को बाहर का रास्ता दिखाकर देश में ऐसा शासनतंत्र स्थापित करने में सहायक बने, जो देश को आगे ले जा सके।

# नोटबंदी के रंग, 500-1000 के संग

❒ राज किशोर सिन्हा

८ नवंबर, २०१६ को रात ८ बजे प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के द्वारा राष्ट्र के प्रति किए गए सम्बोधन से ५०० और १००० रूपये के नोटों के विमुद्रीकरण की घोषणा हुई, जिसे नोटबंदी कहा गया। काले धन के खिलाफ नोटबंदी की घोषणा करके सरकार ने समानान्तर अर्थव्यवस्था को ध्वस्त करने के लिए सबसे बड़ा दाँव खेला। इस आक्रामक अभियान का उद्देश्य काला धन रखने वालों को सबक सिखाना और नशे के कारोबार, तस्करी, आतंकवाद और उग्रवाद की गतिविधियों के लिए अवैध लेनदेन, इत्यादि गतिविधियों पर अंकुश लगाना था। इस नोटबंदी के प्रति लोगों ने अपने हृदय के उद्‌गार अलग-अलग तरीके से कुछ इस प्रकार व्यक्त किए-

''जिन लोगों ने मेरा दिल जलाया था, आज वे नोटों के बंडल जला रहे हैं।''

''जिन कमीनों की माँ मर गई थी और जो माँ की लाश को बोझ समझ कर बिना दाह-संस्कार किए कहीं लावारिस छोड़ कर चील-कौवों को खाने के लिए छोड़ गए थे, वे अब उसी माँ के खाते में ढाई लाख रुपया डाल कर माँ को पुनर्जीवित कर रहे हैं। वाह रे नोटबंदी! तूने तो कमीनों को भी माँ को पहचानने के लिए मजबूर कर दिया।''

''मुद्रा माटी हो गई, मोदी भए कुम्हार।''

''नेता मिलि के रो रहे, ऐसा हुआ प्रहार।।''

''जब से यह नोटबंदी हो गई है, सियासत और भी गंदी हो गई है।''

''सुना है, कश्मीर सांसें ले रहा है, पत्थरों की आवाजें मंद हो गई हैं।''

Demonetization या नोटबंदी के पीछे असल कारण यह होता है कि जब काला धन बढ़ जाता है और अर्थव्यवस्था के लिए खतरा बन जाता है, तो इसे दूर करने के लिए यह विधि अपनाई जाती है। इसके अन्तर्गत सरकार पुरानी मुद्रा को समाप्त कर देती है और नई मुद्रा चालू कर देती है। वे उसके बदले में नई मुद्रा लेने का साहस नहीं जुटा पाते हैं और काला धन स्वतः ही नष्ट हो जाता है।

नोटबंदी के कारण जनता को बहुत सारी परेशानियों का सामना भी करना पड़ा। शायद सरकार के नीति-विश्लेषक इस मामले में व्यावहारिक धरातल पर पूर्वानुमान लगाने में बहुत हद तक विफल रहे। उदाहरण के लिए, देश के सवा सौ करोड़ लोगों में सबके पास बैंक खाते नहीं हैं, उन लोगों के लिए बहुत बड़ी असुविधा पैदा हो गई। लहजिस्टिक्स, माल ढुलाई का सारा बिजनेस ही लगभग ठप हो गया। कल्पना कीजिये कि एक ट्रांसपोर्टर अपने ट्रक में सामान लोड करके एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजता है। ट्रक के अपने गन्तव्य तक आने-जाने में एक सप्ताह का समय लगने का अनुमान है। ट्रक शाम ७ बजे चलती है और उसी रोज आधी रात से नोटबंदी लागू हो जाती है। ट्रक ड्राइवर कार्ड से पेमेन्ट नहीं करता है, उसका सारा काम कैश से ही चलने वाला है। केवल पेट्रोल पंप पर ही वह ५०० और १००० के नोट चला सकता है। रास्ते में ढाबे पर खाने-पीने और अन्य जरूरतों के लिए भी उसे पर्याप्त मात्रा में ५०० और १००० के नोट रखने पड़ते हैं। नोटबंदी के कारण ट्रकों का परिचालन ठप सा हो गया, जिससे माल ढुलाई पर व्यापक असर पड़ा। किसी को अस्पताल जाने की जरूरत पड़ी तो छोटे जिला स्तर के शहरों में प्राइवेट नर्सिंग होम तो हैं लेकिन सभी के पास कार्ड से पेमेन्ट लेने की सुविधा नहीं है और सभी लोग कार्ड से करने में असमर्थ भी हैं। खास कर शादी-विवाह जैसे कार्यों के संदर्भ में तो व्यावहारिक धरातल पर नोटबंदी जैसे एक अभिशाप बन कर अवतरित हुई। कई बार तो ऐसा लगा कि बड़े नोटों का चलन बन्द करके सरकार ने इतना बड़ा निवाला काट लिया है कि चबाना मुश्किल पड़ रहा है। नोटबंदी को लेकर आम जनता में कोई असहमति नहीं रही, किन्तु इसके बाद बड़ा कुप्रबंधन देखने को मिला, जिसमें बैंक स्तर पर होने वाली गड़बड़ियाँ भी शामिल हैं। नियमों में बार-बार होने वाले बदलाव ने प्रधानमंत्री कार्यालय और भारतीय रिजर्व बैंक की अकुशल छवि को दर्शाया। इस भारी अफरा-तफरी में सरकार कई बार रक्षात्मक होती दिखी।

देश के बेहतर भविष्य की दिशा में प्रधानमंत्री का यह कदम निश्चित रूप से सराहनीय है, परन्तु राष्ट्रहित में उठाए गए इस कठोर कदम के बाद भारत काला धन व भ्रष्टाचार से कितना मुक्त हो पाएगा, यह विचारणीय प्रश्न है। भाजपा सांसद सुब्रमण्यम स्वामी का मानना है कि नोटबंदी से कालधन के प्रवाह में कोई खास कमी तो नहीं आएगी, मगर इस फैसले से हवाला रैकेट टूटा है, और दूसरा सबसे अधिक असर आतंकवाद पर पड़ा है, आतंकवाद और अंडरवर्ल्ड की फंडिंग को एकबारगी कड़ा झटका लगा है। सरकार के नोटबंदी के फैसले से आर्थिक चिन्तक गोविन्दाचार्य सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि खुद सरकार का यह मानना है कि करेन्सी के रूप में देश में सबसे कम काला धन है। मुख्य रूप से सोना और अघोषित सम्पत्तियों के रूप में काला धन है। सरकार को इन स्रोतों के खिलाफ कदम उठाना चाहिए था। अगर ऐसा हुआ होता तो आम जनता को इतनी अधिक परेशानी का सामना नहीं करना पड़ता। आर्थिक मामलों के विषेशज्ञ बड़े नोटों को हटाने संबंधी कदम को काला धन को खतम करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम मानते हुए भी इसे नाकाफी मानते हैं। विषेशज्ञों का मानना है कि काला धन को खतम करने के लिए सरकार को चरणबद्ध तरीके से निरन्तर कदम उठाने की जरूरत है। नोटबंदी के अलावा काला धन के दूसरे बड़े स्रोतों पर भी ध्यान देना पड़ेगा और लगातार एक के बाद दूसरे कदम उठाने के बाद ही बेहतर परणाम निकलेंगे।

विशेषज्ञों द्वारा नोटबंदी के कारण जिन नुकसानों की चर्चा की जा रही है, वह है बाजारों की गिरावट, और यह गिरावट इतनी व्यापक है कि बैंक अहफ अमेरिका, मेरिल लिंच और महर्गन स्टैनली जैसे संस्थान भारत की रेटिंग गिरा चुके हैं। गौरतलब है कि भारत की अर्थव्यवस्था एक विकासशील अर्थव्यवस्था है और इस झटके का असर कम से कम छः महीने से साल भर तक रहने वाला है। फिलहाल, वित्त मंत्रालय को यह भरोसा है कि नोटबंदी से कर आधार का दायरा और बढ़ेगा, साथ ही व्याज की दरें भी आगामी दिनों में और कम होंगी। इस प्रकार, टिकाऊ और तीव्र आर्थिक गतिविधियों का रास्ता साफ होगा। जो नकदी बैंकों में लौटी है, उस पर नजर रखना आसान है, अतः इससे कर चोरी कठिन होगी। बैंकों के पास कोश की उपलब्द्धता बढ़ने तथा व्याज दर कम होने से ऋण वितरण में वृद्धि, उत्पादक आर्थिक गतिविधियों में निवेश को बढ़ावा तथा वृद्धि को गति मिलने की उम्मीद है।

जो भी हो, स्वाधीनता संग्राम के बाद संभवतः नोटबंदी एक ऐसा कदम है जिसने सम्पूर्ण भारत को व्यापक स्तर पर प्रभावित किया है।

# अनूप शर्मा : एक विस्मृत शब्द-शिल्पी

मानव-मन की विडम्बना यही है कि मनुष्य की स्मृति अत्यन्त अल्पकालीन होती है। विस्मृति मानव का स्वभाव है। पीढ़ियाँ बहुत जल्दी ही अपनी पूर्व पीढ़ियों के कारनामों को भूल जाती हैं। समय का पहिया घूमता रहता है। काल-चक्र रेहट की तरह चलता रहता है, कूप-रूपी जगत् से बराबर पानी उलीचता रहता है। भविष्य की भूमि को सींचता रहता है। पीढ़ी दर पीढ़ी यह सिलसिला चलता रहता है। यही मानव का 'नवनवोन्मेष' है। यह जगत् का गति-चक्र है। हम सब इसी काल-चक्र की अराएँ हैं। स्मृति, विस्मृति, प्रतिस्मृति के वात्याचक्र में ऊम-चूम उतराते रहते हैं। नरगिस अपनी बेबूरी पर जब जार-जार रोती है, तभी बड़ी मुश्किल से दीदावर पैदा होते हैं और अपने समकालीन लोकवृन्द की आँखों से टपकते लहू के आँसुओं को अपनी पलकों पर ले लेते हैं।

*"कितना (हस्सास) कर दिया गम ने*
*दर्द ही दर्द भर दिया दिल में*
*जब किसी की आँख से टपका लहू*
*अपनी पलकों पर ले लिया हमने।"*

इतिहास में वेदव्यास, चाणक्य, सुकरात, गौतमबुद्ध, तीर्थंकर महावीर, श्रीराम, श्रीकृष्ण, कर्ण, वाल्मीकि, भारवि, बाणभट्ट, चंदवरदाई, कबीर, तुलसी, सूर, मीरा, चैतन्य महाप्रभु, नानक, ईसा, जायसी, रूमी, फिरदौस, विवेकानन्द, गांधी, तिलक, रहीम, निराला, रसखान, दादू, रैदास, शंकर, गुरुगोविन्द सिंह, गोर्की, दोस्तोएवस्की गार्गी, माता मरियम, मूसा, ईसा, मार्क्स, शैले, गेटे, बयरन, शेक्सपियर, कीट्स, टैगोर, माइकेल, एंजलो जैसे सैकड़ों कालपुरुष हो गये हैं जिन्होंने अपने-अपने ढंग से अपनी-अपनी पीढ़ियों को आबे-हयात (गंगाजल) पिलाया था। अपने-अपने समय में महाकाल को मुट्ठी में बाँधा था। जिन्होंने वज्र को मुट्ठी में बाँध आसमान में किल्लोल करती विजलियों और आँधियों से आँखें मिलाकर होड़ की थी। जिन्होंने अपने-अपने युग में सकल जीव जगत् का नेतृत्व करते हुए पूरे मानव-समुदाय को आश्वस्त किया था कि मानव की अमरता पर वे आँच नहीं आने देंगे। सृष्टा (शब्दब्रह्म) ने ध्वनि-तत्व से सृष्टि की रचना की है, और वे 'शब्द' को मरने नहीं देंगे, ध्वनि को तिरोहित नहीं होने देंगे। शिव का 'दिङ्नाद' निरन्तर निनादित होता रहेगा। शिव-ताण्डव रुकेगा नहीं। न ही मनमोहन का मनमोहक 'मोहिनी आट्टम' रुकेगा। शृंगार और वीररस सतत् रिरंसित होते रहेंगे। पीढ़ी-दर-पीढ़ी मानव-जगत्, सहृदय, मननशील भावक, श्रोता, अध्येता, पाठक बराबर रस-स्नात होता रहेगा। अपने पूर्वजों की मयशाला में मयपान करता हुआ आकण्ठ भाव-भरित होता रहेगा तथा अपनी जिन्दगानी के सबब को पहचानता रहेगा। यही पीढ़ियों की गतानुगतिकता का इतिहास है और हमारे इस प्रबन्धा के नायक 'स्वर्गीय अनूप शर्मा' इसी इतिहास के एक कालजयी महानायक हैं। मुनि शुकदेव की भाँति एक अक्षय वाचक, एक अमर कथाशिल्पी, सशक्त शब्द-साधक छन्द रचयिता, छन्द प्रसारक अनूप शर्मा अपनी साँसों की वीणा पर मत्युपर्यन्त सारस्वत गान करते रहे। घनाक्षरी में घन-घन-घन मारू बाजे बजाते रहे। आधुनिक भारत के स्वाधीनता-संघर्ष में 'नाद ब्रह्म' के संकेत पर छान्दस् तीरों की बरसात करते रहे। अनूप शर्मा ने छन्दों के इतने तीर बरसाये कि उनकी निबिड़ता से देश की धरती पट गयी। बीसवीं सदी के भारत का पूर्वार्द्ध महाकवि अनूप शर्मा की छान्दस् बाणवर्षा का इतिहास है, जो सम्भवतः कहीं न कहीं महाकवि होमर, चन्दवरदाई, जगनिक, भूषण के इतिहास को पुनरुज्जीवित कर देता है। आइए, दो-चार बातें इन्हीं भारत-विश्रुत किन्तु अब विस्मृत महाकवि अनूप शर्मा के बारे में कर ली जाएँ। अत्यन्त संक्षेप में मैं इतना कहना चाहूँगा कि महाकवि अनूप शर्मा मेरे श्वसुर थे और मैं उनका दामाद। अनूप जी की गुणशीला प्रतिभामयी सुपुत्री 'सुधा' से मेरा पाणिग्रहण हुआ था। मेरी पत्नी सुधा ने अपने पिता अनूप से सारस्वत साधाना के संस्कार ग्रहण किये थे। उन्हीं संस्कारों का दुग्धपान कराकर मुझे भी बहुत दूर तक मेरी पत्नी सुधा ने सरस्वती मन्दिर में बैठाकर 'सामगान' के लिए प्रेरित किया था। मेरी साहित्य-साधाना में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से मेरी पत्नी स्वर्गीया 'सुधा सुधांशु' के माध्यम से मेरे श्वसुर अनूप शर्मा का आशीर्वाद अपद्युत है। अनूप शर्मा के साहित्य ने मुझे संस्कारित किया है और आज अपने स्मृति-पटल पर मैं उन्हीं मार्तण्ड को पुनः पुनः बालरविसम उदित होते हुए देख रहा हूँ कुछ उसी तरह जिस तरह तुलसी ने देखा था-*'उदित उदय गिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग। वकसे सन्त सरोज सब, हरषे लोचन-भृंग॥"*

गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' के शिष्य, बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर के समान उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ब्रजभाषा में आधुनिक ढंग से घनाक्षरी छन्द में कविता रचने वाले महाकवि अनूप शर्मा आज विस्मृति के गर्भ में विश्रामरत हैं। लेकिन एक वक्त था, जब हिन्दी-पट्टी में कलकत्ते से लेकर पूरे मध्यप्रदेश तथा उत्तरी भारत के तमाम रंगमंचों पर अनूप शर्मा छाये हुए थे। अनूप शर्मा का मंचीय काव्य-पाठ तत्कालीन श्रोताओं में स्वतंत्रता

के लिए जूझ रहे अहिंसक हिन्दुस्तानी की धमनियों में आसमान में कड़कती बिजलियों की-सी कौंध भर देता था। श्रोताओं को लगता था मानो साक्षात् वीर रस ही मंच पर उतरकर ताण्डव नृत्य कर रहा हो। महाकवि अनूप शर्मा को तत्कालीन साहित्य-जगत् में/श्रोता-जगत् में महाकवि भूषण के समान रण-तांडव-सम्राट् कहा जाता था। एक चारण, एक चन्दवरदाई या 'होमर' जैसा 'भाट' उद्भट्ट, जो सुनने वालों को भी शिव-ताण्डव 'नाराच' के लिए 'जलउडगम' के शौर्य-संतेज से भाव-भरित कर देता था। अनूप शर्मा के मंचीय वीर रसात्मक गान सुनकर श्रोतागण 'आर्क खलेस' (होमर के महाकाव्य का नायक) अथवा पृथ्वीराज या शिवाजी अथवा छत्रसाल बन ब्रिटिश-सत्ता से टकराने या जूझ मरने के लिए प्रोद्यत हो उठते थे। कहने का अभिप्राय यह नहीं कि महाकवि अनूप शर्मा अपने काव्य-पाठ द्वारा किसी हिंसा या युद्ध का प्रचार करते थे, अपितु महाकवि की वाणी इतनी ऊर्जस्वित होती थी कि उनके स्वर में शक्ति का निनाद होता था, भारतीय लोक-संस्कृति एवं भारत राष्ट्र के ओज का इतना सारभूत-संदर्शन कि मंच गूँजने लगता था। आकाश-मण्डल में वीर रस का मण्डमण्ड सिंधुघोष गर्जन-तर्जन के साथ तैरने लगता था और हर श्रोता फिर अनूप शर्मा को सुनते हुए अपने को बाज समझने लगता था गुरु गोविन्द सिंह की तरह

''बाज नाल चिड़ियाँ लड़ाऊँ। सवा लाख से एक लड़ाऊँ
तबै गुरु गोविन्द सिंह कहलाऊँ...॥''

अनूप शर्मा सरस्वती के मंदिर में बीसवीं सदी में गुरुगोविन्द सिंह के अवतार थे। चण्डी-शतक की तर्ज पर उन्होंने *'शर्वाणी'* नामक काव्य लिखा है। यह काव्य प्रकारान्तर से भैरवी छन्द में अष्टभुजायिनी, देवी कात्यायनी, देवी दुर्गा की ही सकल मातृ-वन्दना का या शक्तिपूजा का सारस्वत गान है। कभी विश्ववन्द्य विवेकानन्द ने गाया था

''एक बार बस और नाच तू श्यामा (महाकाली)
सामान सभी तैय्यार....।''

कुछ उसी तर्ज पर अनूप शर्मा ने महाकाली / महामाता शर्वाणी के अकूत, अखण्ड, 'ब्रह्माण्ड नृत्य' का आयोजन अपने काव्य में कर दिया है और प्रकारान्तर से ब्रिटिश में विदेशी सत्ताधीशों को चुनौदी दी थी कि वे भारत की 'महाकाली' के प्रकोप को न भूलें। प्रकारान्तर से अपने समस्त श्रोतावृन्दों को प्रेरित किया था *उत्तिष्ठ लोकः। उत्तिष्ठ भारतः।*'' भारतवासियो उठो, जागो, समरक्षेत्र में जूझ पड़ो एक हाथ में खंजर हो, दूजे हाथ 'कमल का फूल'। एक हाथ में खप्पर हो, दूजे हाथ में शान्ति सुरक्षा का वरदायक दीपक। यही भारतीयता है *'वज्रादपि कठोराणि, कुसुमादपि कोमलम्'* और अनूप शर्मा इसी भारतीयता

***महाकवि अनूप शर्मा ने बहुत लिखा है और खुलकर लिखा है। वे छान्दस् कवि थे। सूर ने जिस तरह हजारों की संख्या में पद लिखे हैं, कबीर ने साखी/सबदी दोहरा रचे। तुलसी ने दोहा-चौपाई जिस मात्रा में सिरजे। चन्दवरदाई ने छप्पय, अब्दुर्रहमान ने 'गाहा' छन्द उन सबसे कहीं ज्यादा परिमाण में अनूप शर्मा ने घनाक्षरी में कवित्त और सवैये रचे। उनमें यथानुकूल मात्रादि को लेकर मौलिक परिवर्तन भी किये। उनका अधिकांश काव्य घनाक्षरीपरक काव्य है। सनद रहे यह छन्द मंचीय काव्य-विपाठ के लिए आधुनिक युग में अधिक अनुकूल समझा गया है। हाँ, रीतिकाल से पूर्व भक्तिकाल तथा वीरगाथाकाल में प्रबंधकाव्यों में दोहा-चौपाई ज्यादा चलता था तथा मुक्तक रचनाओं में छप्पय/मत्तगयंद सवैय्या अथवा कवित्त।***

---

के चितेरे थे। शृंगार रस काव्य में भी प्रवीण तथा वीररस काव्य की अलख जगाने में भी माहिर। सन् 1899 में जन्मे अनूप शर्मा सन् 1966 तक वाग्देवी की वीणा पर सारस्वत गान करते रहे। इस सारस्वत कर्म में उन्होंने भारत के गौरवपूर्ण अतीत के अनेक प्रख्यात राष्ट्र पुरुषों को अपनी रचना का उपजीव्य बनाया। ब्राह्मण होने के नाते परशुराम तथा दुर्वासा का सा मिश्रित ब्रह्मण्य तेज उन्हें जातीय परम्परा से प्राप्त हुआ था। वे समझौता-परस्त नहीं थे। किसी से डरते नहीं थे। बेबाक अपनी बात रखते थे। हास्य, व्यंग्य, अट्टहास, अलमस्ती, छरहरापन तथा शोख-बाँकपन उन्हें बचपन से ही विरासत में मिला था। लम्बे-चौड़े, स्वस्थ, सुन्दर शरीर के प्रकृत दाम से युक्त अनूप शर्मा शिवगण की भाँति 'विजया' (भाँग) के परम भक्त थे। इन्द्र देवता क्या सोमपान करता होगा, जो अनूपशर्मा भंग की तरंग में लहराते थे और जब भंग की तरंग में लहराते हुए वे काव्यमंच पर 'दिङ्नाद' करने के लिए आते थे, तो एक बार तो देवाधिदेव 'महादेव' का आसन भी डोलने लगता था। कैलास को बीसों भुजाओं पर उठाये 'शिवताण्डव स्तोत्र' का पाठ करता महाबली रावण भी हतप्रभ हो, मौन होकर अनूप शर्मा को निहोरने लगता था। तब हवाएँ भी प्रभंजन बन जाती थीं। मारुतनन्दन भी उनचास पवनों सहित धरती पर उतरकर अनूप शर्मा का मंचीयगान (आह्वान) सुनने लगते थे। सूर्य, चन्द्रमा तथा तारागण भी पलभर के लिए ठहरकर अनूप शर्मा के वीररस में रसस्नात होने लगते थे। अनूप शर्मा का साहित्य तद्युगीन पत्र-पत्रिकाओं में भरा पड़ा है। अनूप शर्मा काव्य पाठ करते नहीं थे, वे रचनाएँ रचते नहीं थे, अपितु वे काव्य को शब्द को, छन्द को जीते थे और शब्द को जीते-जीते स्वयं ही छन, शब्द या यूँ कह लूँ काव्य-पुरुष बन जाते थे। काव्य-पुरुष का भव्य पौराणिक कथन महाभारत में

मिलता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'साहित्यदर्पण' में 'काव्यपुरुष' का कथन किया है। 'काव्यपुरुष' की कसौटी पर कविवर अनूप शर्मा को कसकर देखा जाए तो 'काव्यपुरुष' की संकल्पना का मर्म हस्तामलक हो जायेगा।

महाकवि अनूप शर्मा ने बहुत लिखा है और खुलकर लिखा है। वे छान्दस् कवि थे। सूर ने जिस तरह हजारों की संख्या में पद लिखे हैं, कबीर ने साखी/सबदी दोहरा रचे। तुलसी ने दोहा-चौपाई जिस मात्रा में सिरजे। चन्दवरदाई ने छप्पय, अब्दुर्रहमान ने 'गाहा' छन्द उन सबसे कहीं ज्यादा परिमाण में अनूप शर्मा ने घनाक्षरी में कवित्त और सवैये रचे। उनमें यथानुकूल मात्रादि को लेकर मौलिक परिवर्तन भी किये। उनका अधिकांश काव्य घनाक्षरीपरक काव्य है। सनद रहे यह छन्द मंचीय काव्य-विपाठ के लिए आधुनिक युग में अधिक अनुकूल समझा गया है (जब कि ठीक इसके विपरीत रीतिकाल में दोहा, सोरठा, रोला को ज्यादा अहमियत दी गई थी)। हाँ, रीतिकाल से पूर्व भक्तिकाल तथा वीरगाथाकाल में प्रबंधकाव्यों में दोहा-चौपाई ज्यादा चलता था तथा मुक्तक रचनाओं में छप्पय/मत्तगयंद सवैय्या अथवा कवित्त। खैर! अनूपशर्मा ने भावानुसार 'घनाक्षरी' को ही ज्यादा महत्त्व दिया। इस छन्द में बात को पूरी तरह से कहा जा सकता है। 'उल्लेख' अलंकार तथा 'वीप्सा' अलंकार में अपनी कहन को बार-बार दुहराकर अपने भाव को अधिक श्रोत्रिय एवं प्रभावशाली बनाया जा सकता है। मंचीय भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से यह छन्द अधिक अनुकूल है। इसी कारण अनूप शर्मा ने इस छन्द को चुना। अनूप जी का प्रत्यक्ष लक्ष्य राष्ट्रीय जन-जागरण था। केवल कोरी कविता नहीं, कोरा आत्मालाप अथवा आत्मसंलाप अनूपजी का उद्देश्य नहीं था। वे लोकवृत्यानुसार स्वयं को प्रकट करना चाहते थे और ऐसा ही उन्होंने किया भी। सनद रहे, छायावाद के कवि आत्मनिष्ठ थे। 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त के पुरोधा, जिनमें पन्त और महादेवी का स्वर अधिाक मुखर रहा है। एक हद तक 'बच्चन' भी उसमें बह गये। पर अनूप शर्मा का उद्देश्य, लोकनिष्ठ काव्य की रचना करना था, इसीलिए उनकी रचनाओं में इतिवृत्तात्मकता अधिक है। अनूप शर्मा ने 'अरण्यगान' नहीं किया है। 'आरण्यक' नहीं रचे हैं। उन्होंने पौराणिकों की तरह, शुकदेव मुनि की तरह पारागमन नहीं किया है। श्रोताओं तक पहुँचकर उन्हें जगाने, संस्कार-संभूत करने का प्रयास किया है। अनूप शर्मा का काव्य लोकविहित काव्य है। वह लोकोत्थान तथा लोकजागरण का काव्य है। अनूप शर्मा 'स्वनिष्ठ' कवि न होकर लोककवि थे 'पीपुल्स पोएट' **(Peoples Poet)** — लेकिन खेद का विषय यही है कि इस लोककवि को स्वातंत्र्योत्तर भारत के स्वार्थी एवं संकीर्णमना लोकसमाज ने जान-बूझकर अपनी क्षुद्र उपलब्धियों को भुनाने के लिए भुला दिया। अनूप शर्मा को स्कूल/कालेजों के पाठ्यक्रम से बाहर निकालकर निहायत बेहूदा किस्म की, अधकचरी और घटिया रचनाएँ पाठ्यक्रमों में रख दी गयीं। भारतीय सांस्कृतिक चेतना को उजागर करनेवाली रचनाओं को पाठ्यक्रमों से साजिशाना तौर पर बाहर कर दिया गया, जिससे आज के दौर के बुद्धिजीवी अपना उल्लू सीधा कर सकें। अपना आर्थिक लाभ बटोर सकें। आज के पाठक-वृन्दों को गुमराह कर सकें और दुःख इस बात का है कि यह सारा कार्य स्वतंत्र भारत के उन सत्ताधीशों तथा राजनैतिक मठाधीशों की साँठ-गाँठ से पश्चिम से आयात किये गये वैचारिक वादों के तहत हुआ है, जो उस हर बात को, हर विचार को नकारने में लगे हुए हैं, जिस पर भारत की, पौर्वात्य दर्शन की तथा भारत के सांस्कृतिक अवबोध की छाप है। भारत को 'इण्डिया' कहने वाले, आर्यावर्त को मात्र 'हिन्दुस्तान' कहने वाले छद्म बुद्धिजीवियों ने संगठित होकर साजिशाना तरीके से 'अनूप शर्मा' की भारतीयता के रंग में रची रचनाओं पर उसी तरह प्रहार किया है, जिस तरह बंकिम चन्द्र चटर्जी की रचनाओं पर प्रहार किया गया है। भारतेन्दु, निराला, गणेश शंकर विद्यार्थी, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, हजारीप्रसाद द्विवेदी, महावीर प्रसाद द्विवेदी, नरेश मेहता, विद्यानिवास मिश्र, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, गोपीनाथ 'कविराज', वीरेन्द्र मिश्र, गोपालसिंह 'नेपाली', दयाकृष्ण विजयवर्गीय, अम्बाशंकर नागर, जानकीवल्लभ शास्त्री, इलाचंद्र जोशी, सम्पूर्णानन्द, आचार्य नरेन्द्र देव, देवेन्द्र 'सत्यार्थी', धर्मवीर भारती, हरिवंशराय 'बच्चन', कुबेरनाथ राय आदि आधुनिक एवं अधुनातन राष्ट्रीय-सांस्कृतिक एवं भारतीय साम्पत्तिक-ऐतिहासिक बोध के साहित्यकारों को वर्तमान पीढ़ी ने नकार दिया है और तेजी से उन्हें विस्मृति के गर्त में ढकेलती चली जा रही है। यही दुरभिसंधि से भरा आचरण गए-वक्तों के महाकवि अनूप शर्मा के साथ भी किया गया है। आज के लोग महाकवि भूषण का नाम तक नहीं जानते, सूदन, लाल आदि तो अजूबा हो गये हैं। कोई नहीं जानता कि 'तिष्य' या 'सरहपा' नाम के कवि भी कभी हिन्दी में हुए थे, जिन्होंने दलितों, वंचितों एवं सामाजिक तबके के सबसे निचले पाये पर दबा दिये गये विपन्नों के पक्ष में उनके उद्धार और उत्थान के लिए विपुल साहित्य रचा था। सामाजिक समरसता एवं सामाजिक समानता का नारा बुलन्द किया था। उनकी रचनाएँ लगभग विलुप्त हो चुकी हैं। काजी नजरुल इस्लाम' की राष्ट्रबोध की रचनाओं को हिन्दीवाले नहीं जानते। महर्षि दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द, रामतीर्थ, भगतसिंह, माखनलाल चतुर्वेदी, आचार्य श्रीराम शर्मा 'सोम', चन्द्रधर वर्मा गुलेरी, गोपालदास 'नीरज' आदि ने किस तरह भारतीयत्व का, शृंगार से लेकर शान्त रस-प्रधान रचनाओं का आगाज किया था, आज के दौर की पीढ़ी के पाठक नहीं जानते। कारण, उन्हें एक-एक करके खारिज किया गया है, क्योंकि वे एक खास किस्म की राजनैतिक-सामाजिक विचारधारा के परिपेटे

*वस्तुतः प्रकृति ने मूलतः मानव जाति को बेहद स्वार्थी, संकीर्णमना, अल्पस्मार्त, भुलक्कड़, स्वात्मजीवी, संकोची, अनुदार, धृष्ट एवं पशुवत्-वर्तमानभोगी बनाया है। मनुष्य केवल अपने वर्तमान में जीता है, वर्तमान में रहता है, रहना चाहता है और अपने अतीत को भी अपने वर्तमान के अनुकूल ही ढालकर अपने भविष्य की मूर्खतापूर्ण स्वप्निल बातें करता है। विस्मृति और अवसाद मनुष्य के खून में है। विस्मृति और अवसाद दोनों मानसिक रोग हैं। आत्मरति (Sadism) से ग्रस्त ये दोनों रोग मनुष्य को प्रकृति ने जातीय अन्तःगुणों के रूप में उसके अस्तित्व-मूल से ही उसे दिये हैं। इसीलिए 'दुःखवाद' का परचम खूब लहराया गया है। सम्पूर्ण मसीही जगत्, बौद्ध जगत्, 'दुःखवाद' का भव्य कथन करता है।*

---

में नहीं समाते। 'सबॉलटर्न' धारा के साहित्यकार नहीं थे या नहीं हैं। वे भारत की बात करते हैं 'इण्डिया' की नहीं। वे 'आर्यावर्त' के गीत गाते हैं हिन्दुस्तान के नहीं। उनकी रचनाएँ भाषिक संयम की रचनाएँ हैं, भाषिक विद्रूपता की नहीं। अतीत काल के उक्त समस्त रचनाकार सामाजिक शुचिता एवं भाषिक शुद्धि तथा चारित्रिक और नैतिक आचरण की प्रतिबद्धता पर बल देते हैं, वे अश्लीलता, अपराध-बोध, सैक्स, नंगई, राजनैतिक-सामाजिक तथा सांस्कृतिक अपसंस्कृतिक/विद्रूपता को सहज-स्वाभाविक तथ्यात्मकता के साथ नहीं स्वीकारते इसीलिए उन्हें खारिज किया जाता है। उन्हें उपदेशपरक (Didactical Poet) कवि या साहित्यकार कहकर पाठ्यक्रमों से बाहर कर दिया जाता है। मंचों से, पुस्तकालयों से बाहर निकाल दिया जाता है। उनकी रचनाओं को बुढ़ऊ/खूसटों की परम्परागत सोच की रचनाएँ कहकर उन्हें पाठकों के पिछबाड़े फिकवा दिया जाता है। सनद रहे, यह प्रवृत्ति अच्छी नहीं है। इससे देश का हित-साधन नहीं हो रहा है। राष्ट्र-मंगल नहीं हो रहा है, अपितु सत्साहित्य का तिरस्कार कर तथा ओछे/बाजारू किस्म के सस्ते अश्लील साहित्य का दामन थामकर व्यक्ति-स्वातंत्र्य के नाम पर *'थोथा चना बाजे घना'* की तरह बजने वाले आज के साहित्यकार और उनकी जमात के छुटभैय्ये, उनके संरक्षक तथा पाठक देश को पतन की ओर ले जा रहे हैं। इस लेख के नायक 'अनूप शर्मा' के साथ भी दुष्टता और अवमानना का यही खेल खेला गया है। वर्तमान स्थिति को देखकर ही कदाचित् किसी बुजुर्ग ने कहा है 'पेड़ बूढ़ा ही सही, उसे (घर के) आँगन में लगा तो रहने दो।'' लेकिन नहीं। आज की पीढ़ी शहरीकरण, बाजारीकरण तथा पश्चिमीकरण की हौंस में बूढ़े पेड़ों को उखाड़ने पर आमादा हो गई है। दूर क्यों जाया जाए हिन्दुस्तान की राजधानी 'दिल्ली'को ही देख लीजिए। कभी यह दिल्ली 1200 बाग-बगीचों पर बसी हुई थी। सब तरफ पानी के स्रोत थे। आसमान में चहचहाती गौरेयाएँ थीं। बाहरी दिल्ली में सैकड़ों की तादाद में मोर नाचते थे। दिल्ली की सड़कों पर पैदल चलने वालों के लिए पटरियाँ बनी हुई थीं। साइकिल ट्रैक अलग से बने थे। दिल्ली की 'यमुना' लबालब स्वच्छ जल से लहराती रहती थी। दिल्ली की सड़कों पर सुबह-शाम बाकायदा सफाई होती थी। भिश्ती लोग गर्मियों के ठंडे पानी से छिड़काव करते थे। लेकिन आज दिल्ली का वह पुराना मंज र उजाड़ दिया गया। दिल्ली के बारह सौ बाग खत्म कर दिये गये। साइकिल ट्रैक्स तथा पटरियाँ नष्ट कर दी गईं। दिल्ली की सड़कों पर लगे तमाम छायादार ऊँचे-ऊँचे दरख्त काटकर फेंक दिये गये। दिल्ली की तमाम पुरानी धरोहरों को पलीता लगा दिया गया। आज दिल्ली को कांक्रीट का जंगल बनाकर खड़ा कर दिया गया है। पूरा शहर राजनैतिक उठा-पटक का अखाड़ा बनाकर रख दिया गया है। दिल्ली शहर का थोबड़ा बिगाड़ दिया गया है। पूरे शहर का पश्चिमीकरण कर दिया गया है। वह शहर जो अभी गए वक्तों के राजाओं तथा शाही शासन का एक करिश्माई नमूना था, वह शहर, जिसने ब्रिटिश शासनकाल में एक नया रंग-रूप अख्तियार किया था।

'गालिब' और 'मीर' का वह शहर, 'ल्यूटिंस' और 'बेकर' का वह शहर किस तरह धीरे-धीरे महानगर में तब्दील कर दिया गया। किस तरह पैसे की हबस में अंधियाए श्रीमन्तों ने एक खण्डकाव्य, एक लघु उपन्यास की तरह पाएमाल हुए दिल्ली जैसे सुन्दर शहर को निहायत भोंडा अजायब घर बनाकर रख दिया, यह सब आज हमारे सामने है। कहने का अभिप्राय यह है कि जो कुछ दिल्ली शहर के साथ किया गया है, वैसा ही बहुत कुछ हिन्दी कवियों, साहित्यकारों तथा नाट्यमंचों और कविगोष्ठियों के मामले में भी किया गया है। अनूप शर्मा जैसे महाकवि भी इसी कुकृत्य का शिकार हुए हैं। अनूप शर्मा के विपुल साहित्य का महत्त्व तथा आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी साहित्य के विकास में द्विवेदीयुगीन-कालखण्ड का महत्त्व वर्तमान काल में केवल एक बालिश्त भर सिकुड़कर रह गया है।

वस्तुतः प्रकृति ने मूलतः मानव जाति को बेहद स्वार्थी, संकीर्णमना, अल्पस्मार्त, भुलक्कड़, स्वात्मजीवी, संकोची, अनुदार, धृष्ट एवं पशुवत्-वर्तमानभोगी बनाया है। मनुष्य केवल अपने वर्तमान में जीता है, वर्तमान में रहता है, रहना चाहता है और अपने अतीत को भी अपने वर्तमान के अनुकूल ही ढालकर अपने भविष्य की मूर्खतापूर्ण स्वप्निल बातें करता है। विस्मृति और अवसाद मनुष्य के खून में है। विस्मृति और अवसाद दोनों मानसिक रोग हैं। आत्मरति (Sadism) से ग्रस्त ये दोनों रोग मनुष्य को प्रकृति ने जातीय अन्तःगुणों के रूप में उसके अस्तित्व-मूल से ही उसे दिये हैं। इसीलिए 'दुःखवाद' का परचम खूब लहराया गया है।

सम्पूर्ण मसीही जगत्, बौद्ध जगत्, 'दुःखवाद' का भव्य कथन करता है। उससे मुक्ति का मार्ग भी सुझाता है। 'विस्मृति'और 'अवसाद' के गह्वर में उतराते हुए 'वर्तमान के सत्य' की बात भी खूब करता है। वर्तमान के निकष पर अपने जातीय अतीत को कसकर अपने 'भूत' का प्रभूत विश्लेषण-विवेचन भी खूब करता है। भूतकाल के औचित्यानौचित्य को परखते हुए अत्यन्त भास्वर शब्दावली में बड़े-बड़े सिद्धान्त रचता है। लम्बी-चौड़ी व्याख्याएँ करता है। तर्क-कुतर्क करते हुए वेद, वेदांग, पुराण, कुरान, बाइबिल, धम्मपद, पिटक, सुत्त, काव्य, महाकाव्य, गल्प, मंत्र-तंत्र इत्यादि न जाने क्या-क्या रच डालता है। मनुष्य ने लिपि का आविष्कार करके शब्दों से खेलना सीख लिया है। शब्दों में अपने अतीत को सहेजकर रखना सीख लिया है बस यही काम मनुष्येतर इतर प्राणी जगत् नहीं कर पाया और मानव ने यह मान लिया कि वह पशु-जगत् से श्रेष्ठ है। वह वैश्वानर है। वह प्रभु की सर्वश्रेष्ठ रचना है।

सम्पूर्ण सृष्टि उसकी बपौती है। वह सृष्टि में उपलब्ध समस्त पदार्थों का स्वामी है, सर्वस्व का भोक्ता है। उसके अहंकार का कद इतना उठता चला गया कि वह शैतान का स्वरूप धारण कर अपने ही कर्त्ता (कर्ता-Creator) से भिड़ गया। अपने रचयिता परम प्रभु को ही उसके लोक से बहिष्कृत कर स्वयं बैकुण्ठवासी होने का दम्भ भरने लगा। उसने स्वर्ग के बहिश्त के सपने देखने शुरू कर दिये। उसके समाज में कुछ ऐसे महामहिम नेतृत्वकारी पुरोधा पैदा हो गये जिन्होंने मनुष्य को मोक्षमार्ग, निर्वाण, स्वर्गलोक की अप्सराओं (बहिश्त की हूरों) के उत्कट भोग के सपने दिखाये।

'नारायण' को पृथ्वी पर उतारकर 'नर' के ही नारायण हो जाने की तकनीक और रास्ता दिखाने का दावा किया। फलतः धर्म, दर्शन, विचार, मतामत, अभिमत, साधना-पद्धतियों के अनेकानेक मठ बनते चले गये। अपने-अपने मठों में अपने-अपने मठाधीशों को लेकर मनुष्य आपस में बहसने लगा। बहसने ही नहीं लगा, वह एक-दूसरे पर हावी होने के लिए रक्तपात/ हिंसा का मार्ग भी अपनाने लगा। बेचारे, तमाम नेतृत्व विधायक महामहिम अतीत के उच्च सोपान से अपनों में ही उभर आये कठमुल्लापने को देखकर दुःखी हो उठे। द्रवीभूत हो उठे पर वर्तमान को ही सब कुछ मानकर वर्तमान में जीने वाला मनुष्य अपने अतीत के महापुरुषों की जीवन्तता को बरकरार नहीं रख सका। अपने अहंकार तथा अपनी क्षुद्रता अथवा लघुता के दायरे में रहते हुए वह स्वयं को 'विस्मृति के गर्त' से बाहर नहीं ला पाया। सनद रहे, मानव विश्व का सबसे बड़ा कृतघ्न प्राणी है।

वर्तमान से जुड़े रहने के लिए उसका कृतघ्न होना लाजि मी भी है। यह मनुष्य ही है जो जिस थाली में खाता है, उसी में छेद भी करता है। दुनिया का सबसे बड़ा मूढ़-मतिमन्द या कम अक्ल का प्राणी अगर कोई है तो वह मानव ही है। वह जिस डाल पर बैठा है, उसी को कुतर रहा है। (द्वापर्णा पक्षी का मिथक बड़ा सटीक है)। इसी प्रवृत्ति का प्रतिफल है कि आज के दौर में पाठक तथा हिन्दी-सेवी बौद्धिक एवं विदग्ध साहित्यिक-भावक गये वक्तों के एक महाकवि अनूप शर्मा को भुला बैठा है। उस अनूप शर्मा को भुला बैठा है। उस अनूप शर्मा को जो बीसवीं सदी के तीसरे, चौथे और पाँचवें दशक में हिन्दी के रंगमंच पर छाये हुए थे। कवि सम्मेलनों में जो महाकवि भूषण की तरह दहाड़ते थे। महाकवि भारवि, नागार्जुन (शून्य सिद्धान्त के रचयिता), गुरु गोरखनाथ, जगनिक (आल्हा काव्य के रचयिता), अमीर खुसरो, केशवदास, 'मीर' और 'गालिब' की तरह हिन्दी पट्टी में हिन्दी भाषा-भाषी जन-समुदाय के या सहृदय-समाज के कण्ठहार बने हुए थे। आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी में बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध का एक लम्बा कालखण्ड ऐसा भी रहा है, जिसमें काव्यमंच पर अनूप शर्मा की तूती, बोलती थी। खुसरो ने 800 वर्ष पहले कहा था 'मैं 'हिन्द' की तूती हूँ' अनूप शर्मा ने 80 वर्ष पहले कहा था ''मैं वर्तमान भारत का घनाक्षरी छन्द हूँ। मैं हिन्दी के काव्यमंच का महाकवि हूँ।''

*''यूँ तो दुनिया में हैं 'सुखनकर' और (भी बहुत अच्छे)*
*पर कहते हैं 'अनूप' का है अन्दाज -ए-बयाँ और।''*

ऐसे अनुपम महाकवि घनाक्षरी छन्द के 'बाउल गायक' अनुपम आवाज के उद्गाता 'अनूप शर्मा' को आज का कृतघ्न हिन्दी जगत् भुला बैठा है। स्मृति के उस विलोपन देश से महाकवि अनूप शर्मा को बाहर निकालने का यत्किंचित् उपक्रम करने का प्रयास करते हैं। आने वाली पीढ़ियों को याद दिला दिया जाए कि उनके बाप-दादों में एक अनूप शर्मा भी थे जिन्होंने अपने 'रक्त की लेई' से उनके लिए काव्य की एक छिन्नमस्ता तैयार की थी।

*आज के दौर में पाठक तथा हिन्दी-सेवी बौद्धिक एवं विदग्ध साहित्यिक-भावक गये वक्तों के एक महाकवि अनूप शर्मा को भुला बैठा है। उस अनूप शर्मा को भुला बैठा है। उस अनूप शर्मा को जो बीसवीं सदी के तीसरे, चौथे और पाँचवें दशक में हिन्दी के रंगमंच पर छाये हुए थे। कवि सम्मेलनों में जो महाकवि भूषण की तरह दहाड़ते थे। महाकवि भारवि, नागार्जुन (शून्य सिद्धान्त के रचयिता), गुरु गोरखनाथ, जगनिक, अमीर खुसरो, केशवदास, 'मीर' और 'गालिब' की तरह हिन्दी पट्टी में हिन्दी भाषा-भाषी जन-समुदाय के या सहृदय-समाज के कण्ठहार बने हुए थे।* आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी में बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध का एक लम्बा कालखण्ड ऐसा भी रहा है, जिसमें काव्यमंच पर अनूप शर्मा की तूती, बोलती थी।

# 498ए और वनटाइम सेटलमेंट का धंधा

नियम-कानून जब परिवर्तन, सुधार-क्रांति के अस्त्र नहीं बनते, तक कानून के ही विरुद्ध विद्रोह होता है। आधुनिक समय में भी कितने ही ऐसे नए-पुराने कानून हैं जो सामाजिक उत्थान और सद्क्रांति के वाहक न बनकर, उन्हें बाधित करने वाली प्रतिक्रांति की धारा सिद्ध हो रहे हैं। भारतीय दंड संहिता की धारा 498ए इसी प्रकार का कानून है, जो बनाया तो गया था दहेज उत्पीड़न और घरेलू हिंसा से बेटियों-बहुओं को बचाने के निमित्त, किंतु समय बीतने के साथ यह पति-पत्नी के अन्यान्य न जाने कितनी और कैसी-कैसी समस्याओं को सुलझाने-उलझाने का प्लेटफॉर्म बनता गया। दहेज उत्पीड़न और घरेलू हिंसा से बिल्कुल परे भी जहाँ समस्या पत्नी-बहू के अपने कारण ही होती है, वहाँ भी परेशानी को 498ए के साँचे में ढालकर मामला दर्ज कराके चलाया जाता है, जो आपराधिक और गैरजमानती होता है, यानी सजा से पहले ही गिरफ्तारी हो सकती है, न्यायिक हिरासत में भेजा जा सकता है।

बहू या पत्नी की किसी भी दिक्कत के लिए 498ए के अंतर्गत दहेज प्रताड़ना और घरेलू हिंसा का मामला चलाना सर्वथा अनुचित और गैरकानूनी है। दुराग्रहवश, कानून जिस प्रयोजन के लिए बना था, उसके लिए अत्यल्प प्रयुक्त होकर, इतर विषयों-समस्याओं के लिए अधिक दुरुपयोग में आ रहा है। जिन लोगों ने दहेज न लेने-देने की शर्त पर सादगी से आदर्श विवाह किया और किन्हीं अन्य कारणों से दाम्पत्य जीवन में कटुता आ गई, उनके ऊपर भी दहेज उत्पीड़न का मुकदमा अदालतों में चलता है। वे तब तक दहेज के लिए प्रताड़ित करने वाले दोषी बने रहते हैं, जब तक कि बरी न हो जाएँ और जरूरी नहीं कि बरी हो ही जाएँ।

बहू या पत्नी की किसी भी कठिनाई को 498ए के अंतर्गत रख देने से मूल समस्या हमेशा के लिए पर्दे में गोपनीय रहकर अनसुलझी रह सकती है। अतः मूल समस्या अदालत में जानी चाहिए। हो सकता है कि उस पर पहले से कानून न हो, परंतु बिना कानून के भी न्याय हो सकता है; किंतु तब, जब न्यायाधीश उच्च कोटि के विवेकवान और पूर्णतः निष्पक्ष हों। जहाँ किसी अकल्पित स्थिति के लिए पूर्वनिर्मित कानून नहीं है, वहाँ भी किसी को उत्पीड़ित होने और अनाचार-अत्याचार करने की छूट नहीं होती। जीवन व्यवहार के प्रत्येक विषय को लिखित रूप देना संभव नहीं होता। इंग्लैंड का नियम-कानून अलिखित परंपराओं से बहुत हद तक चलता है, पर वहाँ अधिक समस्या नहीं होती, जबकि भारत में बहुत कुछ लिखित में स्पष्ट है, फिर भी अलग-अलग स्वार्थी व नासमझ व्याख्याओं के कारण कठिनाई उत्पन्न होती है। नियम-कानून की व्याख्या का सर्वोच्च अधिकार न्यायालय को प्राप्त है। वहाँ भी न्यायाधीशों की राय कई संवेदनशील मुद्दों पर न केवल अलग-अलग होती है, बल्कि एक-दूसरे के विपरीत भी होती है, फिर बहुमत से निर्णय लेना पड़ता है। एक ही तरह के मामले में विभिन्न अदालतों का निर्णय भिन्न-भिन्न तरह का और परस्पर विरुद्ध भी होता है। भारत में मंत्रियों, प्रशासकों, न्यायाधीशों के बारे में एक आम धारणा और उसका उदाहरण भी मिलता है कि वे 'अपनों' के साथ पक्षपात करते ही हैं, अतः जहाँ अपने हों, उन मामलों से इनसे स्वयं हट जाने की उम्मीद की जाती है, जबकि पुराने राजतंत्र में ऐसे राजाओं की कमी नहीं थी जो न्याय करते वक्त अपनों की कुर्बानी देने से नहीं चूकते थे। न्याय का तकाजा है कि एक तरह के अपराध करने वाले जहाँ अपने और पराए हों, वहाँ सजा पहले अपनों को और वह भी सख्त मिलनी चाहिए। चूँकि 498ए का मुकदमा करने वाली पत्नी या बहू होती है, अतः आरोपों को पहली नजर में ही सही मान लिया जाता है। किसी स्त्री द्वारा यौन उत्पीड़न और बलात्कार का आरोप लगाए जाने पर भी ऐसा ही होता है। दोनों ही स्थितियों में यह माना जाता है कि कोई बहू-पत्नी अपने पति और उसके परिजनों के खिलाफ तथा कोई स्त्री किसी पुरुष पर यौन अपराध का आरोप लगाते हुए यों ही इतनी दूर तक नहीं जा सकती। मामला झूठा हो या सच्चा - निसंदेह कोई-न-कोई बात तो होती है। परंतु पहले किसी भी कारण से सहमति से शारीरिक संबंध बनाकर आनंद लेना और बाद में अन्य या उसी कारण से बलात्कार का रूप देना कहाँ का न्याय है? यहाँ या तो स्त्री-पुरुष दोनों ही दोषी होते हैं अथवा दोनों ही दोषी नहीं होते, लेकिन दोषी केवल पुरुष को माना जाता है।

किसी भी आरोप के अदालत में गलत या सही साबित होने में बरसों लग जाते हैं। 498ए चूँकि गैरजमानती मुकदमा है, अतः जमानत के लिए निचली अदालतों से लेकर उच्च न्यायालय और कई बार सर्वोच्च न्यायालय तक का चक्कर लगाना

पड़ता है जो श्रमसाध्य अर्थसाध्य कार्य है। यह साधारण व आर्थिक रूप से कमजोर लोगों के बूते से बाहर की बात होती है। सर्वोच्च न्यायालय में किसी छोटे मामले को ले जाना भर लाखों रुपये का बजट चाहता है। ऐसे मामलों में सामान्यतः जमानत निचली अदालतों में नहीं मिलती। कई बार जमानत पर बेर रखकर आरोप की सत्यता-असत्यता जाँचे-परखे बिना सुलह-समझौते के लिए प्रेरित किया जाता है, जहाँ पति पक्ष से न्यायिक परिधि के भीतर पैसे की खुलेआम बोली लगवाई जाती है। जमानत के लिए आरोपी न्यायालय में जाता है, पर कई बार उसे जमानत के एवज में पति-पत्नी की स्थिति जाने बिना मासिक रकम देने का आदेश प्राप्त होता है, जबकि भुगतने वाले की क्षमता से अधिक कोई भी सजा अन्यायिक न्याय है या न्यायिक अपराध है। यदि आरोप झूठा है, तो यह आर्थिक दंड पति के लिए जले पर मिर्च की तरह होता है। झूठे आरोपों के रहते पत्नी के साथ और सच्चे आरोपों के रहते पति के साथ रहना हो सकता है? एकसाथ रहने पर आरोपों के साथ न्याय कैसे संभव है? आरोपित होने पर मंत्रियों को इस्तीफा देना पड़ता है, क्योंकि पद पर रहने से जाँच प्रभावित होती है। इसलिए समझौते की कोई भी कोशिश आरोपों की गंभीरता जाँचने के बाद ही होनी चाहिए। दंपती भी आरोपों से निकलने के बाद ही पति-पत्नी रूप में एकसाथ रहने के हकदार हो सकते हैं, आरोपों के रहते कदापि नहीं। शायद यह सब रिश्ते को बचाए रखने के लिए किया जाता है, पर झूठे-सच्चे आरोपों-अपराधों की नींव पर रिश्ता कैसे टिक सकता है?

किसी भी कानून के साथ नैसर्गिक न्याय यही है कि उसका सत्य की पृष्ठभूमि में अनुपालन हो, झूठ की पृष्ठभूमि पर नहीं। जिस निमित्त बना हो, वहीं उसका उपयोग हो; अन्यथा एक जगह कुछ लोगों को राहत देगा, वहीं दूसरी जगह दुरुपयोग में आने के कारण बहुतों को परेशान भी करेगा। प्रताड़ना व हिंसा से स्त्री को मुक्त कराने के नाम पर 498ए पारिवारिक कलह-क्लेश और घरेलू हिंसा का नया रणक्षेत्र तैयार कर रहा है। यह बच्चों-महिलाओं की प्रताड़ना, संबंधों की ब्लैकमेलिंग और रिश्ता बनाकर धनउगाही जैसे घृणित कार्य का कारगर अस्त्र बन रहा है। पारिवारिक विघटन और आर्थिक, शैक्षणिक, सामाजिक शोषण का जरिया सिद्ध हो रहा है, बेशक कहीं भी स्त्री के उत्पीड़न से भी परिवार मजबूत नहीं होता। जितनी महिलाओं को कानूनी संरक्षण मिला है, उनसे कई गुना अधिक महिलाओं-बच्चों और पुरुषों की जिंदगी में जहर घोलने का काम इस कानून द्वारा हुआ है। यह सब किसी आरोप को जाँचे बिना प्रारंभिक तौर पर सही मानने की परिपाटी के कारण होता है। चाहे कोई पत्नी-स्त्री ही आरोप लगाने वाली हो, उसकी बात को आप्त वचन की तरह मानना अनुचित है। तुलसीदास की तरह यह कहना शायद मुनासिब न लगे कि आलस्य, झूठ, चंचलता, माया-मोह-कपट, भय, अविवेक, अतृप्ति और क्रूरता जैसे अवगुण नारी के हृदय में सदैव रहते ही हैं - ''नारी स्वभाव सत्य कवि कहहूँ। अवगुण आठ सदा उर रहहूँ।। आलस अनृत चपलता माया। भय अविवेक अतोष अदाया।।'' फिर भी महिलाएँ चाहे झूठ ही न बोलती हों, पर झूठ भी बोलती हैं - इसे मानने में संकोच नहीं होना चाहिए। रागात्मक गहराई में भी किसी को शारीरिक रूप से नग्न करना आसान है, पर हार्दिक रूप से मुश्किल। सबमें कुछ न कुछ अवगुण रहता है, पर इन्हें स्वयं स्वीकारना मुक्ति पाने के लिए जरूरी है। इस प्रकार रूढ़ियाँ-बुराइयाँ स्त्री में भी होती हैं। यदि ऐसा न होता तो आधी आबादी के बल पर समाज-संसार स्वर्ग सदृश बन गया होता। यह सही है कि समाज में पुरुषसत्तात्मक मूल्यों का वर्चस्व है, किंतु अब महिलाओं की सत्ता दिनोंदिन हर क्षेत्र में बढ़ती जा रही है। राज्य प्रशासन, सरकार व कानून के साथ अदालतें भी उनके पक्ष में खड़ी हैं। इन सबके बावजूद, स्त्री-सत्ता न होने का दुखड़ा सुनाया जाता है। लेकिन जहाँ उसकी सत्ता चलती है, वहाँ भी समस्याएँ जस-की-तस हैं, क्योंकि सत्ता के बिना ठीक से जीने की कला विकसित नहीं हुई है, इसलिए कहीं सत्ता के प्रति सकारात्मक नजरिये के कारण, तो कहीं स्वसत्ता के अभाव में नकारात्मक नजरिये की वजह से सत्ता की सत्ता बनी हुई है।

आधुनिकतम शिक्षित परिवेश में किसी स्त्री-पुरुष को आसानी से फुसलाया नहीं जा सकता - यह अर्द्धसत्य ही है, क्योंकि बहुतों को आज भी अत्याधुनिक तरीके से बरगलाया जाता है और न जाने कितने लोगों को स्वयं भी बहकने में ही मजा आता है। अनेक स्त्रियों को बहला-फुसला कर जिंदगी खराब कर दी जाती है, वहीं कई स्त्रियाँ तबाह करने के लिए ही किसी के जीवन में समाती हैं। इस चरम लक्ष्य की साजिश में कई बार स्वयं भी बर्बाद हो जाती हैं। घरेलू हिंसा, दहेज प्रताड़ना और बलात्कार के लिए बने भारतीय कानूनों में ऐसी स्थिति पर नियंत्रण का कोई प्रावधान नहीं है; न ही सच्चाई, निर्दोषता और न्याय को प्रथम दृष्टि में ही संरक्षित करने का व्यावहारिक प्रचलन है। वस्तुतः जब कोई भी चीज या वस्तु अनाड़ी अथवा गलत हाथों द्वारा प्रयुक्त होती है, तो वहाँ नाकारापन सिर चढ़कर बोलता है। पति-पत्नी में कानूनी अलगाव ही नहीं,

तलाक हो जाने के बाद भी 498ए के अंतर्गत मुकदमा चलते रहने या चलने के उदाहरण भी मिल जाते हैं। संसार में कहीं भी कानून का ऐसा विचित्र अनुपालन नहीं होता। इसलिए अमेरिका, कनाडा सहित कई देश अपने नागरिकों खासकर भारत आने वाले पर्यटकों को समय-समय पर इस दहेज प्रताड़ना और घरेलू हिंसा कानून के प्रति आगाह करते रहते हैं कि भारतीय अदालतों में ऐसे मामलों में एक बार फँस जाने पर निकलने में बहुत अधिक रुपयों की जरूरत पड़ती है, फिर भी निकल पाना आसान नहीं होता। भारतीय स्त्री से शादी या शादी जैसा कुछ करके पुरुष इस कानून से बँध जाता है कि पत्नी को पूरे प्यार व सम्मान के साथ रखने की जिम्मेवारी पति की है, पर पत्नी यह सब न चाहे तब? भला ऐसी कौन-सी पत्नी होगी जो यह सब न चाहे। खैर! थोड़ी कोताही हुई या फिर पत्नी ने जानबूझकर विषकन्या का रूप धारण कर लिया, तो पति 498ए का मुजरिम बन जाता है। फिर जमानत के लिए दौड़धूप, गिरफ्तारी से बचने का उपक्रम, गुजारा भत्ता देने का जुगाड़ और 'वन टाइम सेटलमेंट' के लिए भरपूर रकम भुगतान करने के लिए तैयार रहना पड़ेगा। पत्नी परिवाद करने वाली तो होती ही है, समझौते के समय लगभग न्यायाधीश की तरह की भूमिका में भी होती है, उसकी मर्जी सर्वोपरि रहती है। अदालत से बाहर ऐसी भूमिका की तलाश काफी कठिन है।

महिलाओं को संवद्धित-संरक्षित के लिए राज्य पति की जमानत अर्जी का साधारण स्थिति में विरोध करता है, जबकि कई जगह पति पक्ष की मानहानि व अन्य नुकसान विशुद्ध रूप से राज्य प्रशासन के अंग-उपांगों द्वारा सीधे या परोक्ष ढंग से पहुँचाई गई होती है, जहाँ पत्नी-स्त्री या तो मोहरा बनाई गई होती है या उत्साहवश खुद बनती है। जहाँ यह रहस्य प्रकाश व पकड़ में आने लगता है, वहाँ कुछ प्रलोभन देने का प्रयास किया जाता है। किसी स्त्री का थोड़े समय के लिए भी पति रहे व्यक्ति के सारे नागरिक व मौलिक अधिकार खत्म हो जाते हैं, इंसानी मूल्यों और मानवीय अधिकारों से वंचित होना पड़ता है। आपराधिक मामला चलाकर उसे गिरफ्तारी-हिरासत में रखा जा सकता है। मूल्यों को तोड़ने वाली स्त्री को मुँहमांगी रकम देकर कृतज्ञ होना पड़ सकता है। रिश्तों-संबंधों का अलगाव तो फिर भी आदमी झेल लेता है, परंतु आत्मिक जीवन मूल्यों के टूटने का विक्षोभ तो रिश्तों के अंदर भी और बाहर भी सदैव सालता है। भारत में स्त्री-पुरुष की आत्महत्या का अनुपात 2 : 3 है, जिनमें लगभग 50 प्रतिशत विवाहित पुरुष होते हैं, जबकि उसकी आधी 25 प्रतिशत विवाहित महिलाएँ होती हैं। इसका एक कारण यह भी है कि कुछ मामलों में निर्दोष पुरुष को संरक्षण और न्याय देने वाली कानून व्यवस्था नहीं है। न्यायालय में भी जब अन्यायिक न्याय होता है, तब पुरुष आत्महंता बनता है या फिर हिंसा-अपराध द्वारा अपने पक्ष में न्याय खोजने की कोशिश करता है। स्त्री किसी खुन्नस के लिए 498ए का आश्रय लेती है, तो वहीं पुरुष 498ए में रहते हुए अन्यत्र खुंदक निकालने के लिए व्यग्र रहता है। इस प्रकार दहेज प्रताड़ना और घरेलू हिंसा के प्रति जुगुप्सा उत्पन्न न होकर आंतरिक व प्रतिशोधी उत्ताप बढ़ता जाता है।

498ए स्त्री-पुरुष समानता के सिद्धांत वाले कानून की धारा नहीं है। संरक्षित करना और बात है, पर संरक्षण के नाम पर अन्य के नैसर्गिक व मानवीय हकों को मारना बिल्कुल प्रतिगामी बात है। वस्तुतः यह रिश्तों को संपुष्ट करने की बजाय सौदेबाजी, ब्लैकमेलिंग और बाजारू रूप देने तक सीमित है, इसलिए सर्वोच्च न्यायालय ने भी इसे 'कानूनी आतंकवाद' की संज्ञा दी है, जिसकी आड़ में कितने छुपे-अनछुपे अनाचार-अत्याचार पनपते हैं। 498ए के ज्यादातर मुकदमे खारिज हो जाते हैं, पर जो मानसिक, आर्थिक, सामाजिक हानि हो गई होती है, उसकी भरपायी नामुमकिन है। मामले खारिज होते हैं, क्योंकि गलत-झूठे होते हैं या फिर सही होने पर भी वैवाहिक संबंधों के सभी पहलुओं के साक्ष्य-प्रमाण उपलब्ध नहीं हो पाते। दोनों ही स्थितियाँ चिंतनीय हैं, जिस कारण बहुत सी स्त्रियाँ न्याय से वंचित रह जाती हैं और पुरुष भी। वस्तुतः दाम्पत्य संबंधों के झगड़े को निपटाने के लिए अलग किस्म की विमर्श-न्याय व्यवस्था की आवश्यकता है। यह केवल नीति और न्याय से जुड़ा मामला नहीं है, बल्कि समाज, संस्कृति, धर्म-अध्यात्म, मानवता और आत्मा से जुड़ा प्रश्न भी है। स्त्री-पुरुष रिश्ता रखने या न रखने के लिए बिल्कुल स्वतंत्र हो सकते हैं, पर साथ या अलग रहते हुए एक दूसरे के व्यक्तित्व को विकृत बनाने और चोट पहुँचाने के लिए कतई स्वछंद नहीं हो सकते। शादी-विवाह एकदम सादगी से संपन्न होना चाहिए और यदि अलगाव की नौबत आए, तब पति-पत्नी का गुजारा कैसे चले, इसके लिए केवल पति पर केन्द्रित रहने की बजाय सरकार व न्यायालय को पति-पत्नी के लिए संसाधन उपलब्ध कराने के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। वस्तुतः इस कानून में उतना खोट नहीं, जितना गलत ढंग से गलत जगह इस्तेमाल किया गया है। इसी कारण यह हमेशा-हमेशा के लिए पुरुष वर्ग को असुरक्षित बनाकर अँधेरी गुफा में ढकेलने लगा है, वहीं स्त्री को भी .....। ✵

# राम नाम सत्य है

'राम नाम सत्य है' सुनकर कैसा लगता है? यद्यपि यह आस्था, आस्तिकता और राम के नाम और अस्तित्व को व्यक्त करने वाला लोक प्रचलित मनमोहक कथन है, तथापि यह अशुभ घड़ी का शुभ वक्तव्य है। अब हाल ही में ही दो परिचितों के परिजनों के मृत्यु के बाद अंतिम संस्कार के लिए श्मशान घाट जाने के सिलसिले में यह लोक नारा सुनने के मिला। जब किसी की मृत्यु होती है, तो अर्थी को कंधा लगाने वाले और उसके साथ चलने वाले इसका जोर-जोर से उच्चारण करते हैं। पता नहीं जिसकी मृत्यु हुई होती है, वह पूरी जिंदगी राम के नाम व अस्तित्व को लेकर शंकामुक्त हो पाया था कि नहीं, उस पर भरोसा कर पाया था कि नहीं। राम के अस्तित्व को जीवन में क्षणभर भी महसूस कर पाया था कि नहीं, लेकिन आज उसके पार्थिव शरीर के साथ चलने वाले राम नाम के अस्तित्व की सत्यता पर बेबाक राय व्यक्त कर रहे हैं। लोग राम नाम सत्य है कह रहे हैं, उन्होंने 'राम नाम सत्य है' ऐसा जो मान लिया हो ,फिर जान लिया हो और फिर अनुभूत कर लिया हो ऐसा भी नहीं है। किसी की मृत्यु देखकर लोगों को लगता जरूर है कि अंतिम सर्वोच्च सत्य यही है। मृत्यु के बाद शरीर मिट्टी तुल्य हो जाता है।

राम की इच्छा का फल है जीवन-मृत्यु। अक्सर ऐसा होता है कि किसी उद्धरण को उपयुक्त समय पर लोक कहावत की तरह रटकर कह दिया जाता है। उसमें हमारे अन्तर्मन की पुकार शामिल नहीं होती है। बस औपचारिकता पूरी करनी होती है। 'राम नाम सत्य है' एक ऐसा कथन है जिसके लिए सबसे उपयुक्त समय अर्थी उठाने के वक्त होता है। पता नहीं 'राम नाम सत्य' का बार-बार उल्लेख किसके लिए है। उस व्यक्ति के लिए है, जिसकी मृत्यु हुई है, क्योंकि मृत्यु के सच का समाना तो उसी ने किया है, बाकी तो दूसरों के मरने के बारे में पहले भी पढ़-सुन-देख चुके हैं। उसी कड़ी में आज की भी मृत्यु है। फिर दूसरे लोगों के लिए कि देख लो, इतना उड़ते हो अपने ज्ञान, विवेक, पद, सम्मान, दौलत को देखकर, लेकिन यह अस्थायी सच कब उलट जाए, इसका पता नहीं। यह सच विकृत भी होता है, लेकिन मृत्यु ही अटल सच है, जिसके सामने सारे सांसारिक भोग-विलास झूठे मालूम पड़ते हैं। क्या यह बाकियों के लिए अपने द्वारा ही आगाह करने का वक्तव्य है, तो फिर सब कुछ ज्यों का त्यों क्यों चलता रहता है?

अगर मृत्यु अटल सच है तो पहले का जीवन क्या है? जीवन में मृत्यु कभी भी आ सकती है, फलतः मृत्यु का खौफ पूरी जिन्दगी पर हावी रहता है। पूरी जिंदगी का एक-एक क्षण यह जानकर भी कि इसका आना निश्चित है, लोग इससे बचने की कोशिश में रहते हैं। हम पूरा जीवन मृत्यु से बचने का उपक्रम करते हैं। आखिर हम क्यों नहीं निश्चिंत हो पाते कि मृत्यु तो आनी है, कोई भी क्षण अंतिम क्षण हो सकता है। क्यों न सदैव उसके स्वागत के लिए अपने को तैयार रखा जाए। मृत्यु की चिंता छोड़कर बाकी जीवन के सच को जानने का प्रयास किया जाए। सच तो यह है कि मृत्यु हमें जीवन को सुचारू रूप से जीने की प्रेरणा देती है, उसका महत्त्व बतलाती है। अगर मृत्यु न हो तो जीना दूभर हो जाएगा। पौराणिक कथाओं में जिन्होंने भी मृत्यु पर चाहे-अनचाहे नियंत्रण थोड़ी मात्र में शक्ति पायी वे जीवन से ऊबने लगे, तड़पने लगे, अपने जीवन से ही खौफ खाने लगे।। भीष्म पितामह और अश्वत्थामा जैसे उदाहरण हमारे सामने हैं। इसलिए जीवन सार्थक तभी है जब मृत्यु है, जन्म की अनिवार्य परिणति मृत्यु है और कुछ हो या न हो। इस प्रकार मृत्यु की उपलब्धि जीवन है।

जीवन में देह-शरीर के सूक्ष्मतम से सूक्ष्मतम ज्ञान के बावजूद आत्मा, प्राण या जिसे जान कहते हैं, उसके अस्तित्व की सच्ची अनुभूति मृत्यु से ही होती है। यदि मृत्यु न हो रही होती तो हम आत्मा की सत्ता को न मान रहे होते, परमात्मा से साक्षात्कार का स्वप्न न देख पाते। यह आत्मा मृत्यु से परे जीवन का सत्य है और जीवन से परे मृत्यु का साक्ष्य। दोनों ही स्थितियों में हम आत्मा की सत्ता की अपरिहार्यता और निरंतरता देख पाते हैं। इसलिए बुद्ध ने जब कहा कि विनाश ही परम सत्य है, तब उसका यही अर्थ था कि विनाश से परे जो है, उसका संधान करें। कुछ दार्शनिकों ने कहा कि नाश कभी जीवन का सत्य नहीं हो सकता। मृत्यु और जीवन से जो परे हैं, वही आत्मा मूल सत्य है और उसी से संबंधित सत्य को खोजने की जरूरत है। जैसे आलू एक सत्य है, लेकिन उबलने के बाद, छिलने के बाद, फिर सब्जी में आलू का अन्य रूप है। फिर खाने के समय जो स्वाद मिला वह भी आलू ही है। फिर उससे जो पौष्टिकता मिली, खून आदि बना, वह भी सच है, फिर मल द्वारा आलू का जो निकास हुआ, वह भी सत्य है, यदि यह सब सच है तो फिर आलू का मूल क्या है? जाहिर है आलू नाशवान है, मूल कुछ भी नहीं है। लेकिन सच में थोड़े क्षणों के लिए सब्जी स्वाद, खून, मल, खाद आदि सच जैसे लगते हैं, लेकिन ये अंतिम सत्य नहीं हैं। इसी तरह हमारे जीवन का पूरा कार्य-व्यापार चलता है, जो क्षणिक सच तो है, पर सत्य नहीं है। आत्मा सत्य है, उसी के प्रति मन में आकर्षण होना चाहिए। मूल वही है जो शरीर, मन, दिमाग, इन्द्रिय और मृत्यु से परे हैं। उस मूल पर स्थित होकर यदि हम जीवन-मृत्यु के सच को देखेंगे तो नजरिया दूसरा होगा, देखने की दृष्टि बदल जाएगी और जीवन का हर कार्य-व्यापार अलग ढंग से संपन्न होगा, हार-जीत, सफलता, असफलता में आनंद और खुशी होगी। किसी भी तरह की प्रतिक्रिया इस पत्रिका में पाठकों की भागीदारी का सूचक है, अतः अपेक्षणीय है।

# गुलामी की आजादी

स्वतंत्रता मनुष्य ही नहीं, प्राणिमात्र की नैसर्गिक प्रकृति है। पफलतः जब भी उस पर किसी प्रकार का बंधन आरोपित किया जाता है, तो जीव छटपटाने लगता है, लेकिन यह छटपटाहट प्रायः बाहरी बंधनों और लादे गए बोझों प्रति ही होती है। इनके अतिरिक्त बहुत-सारी बंदिशें हैं, जिन्हें लोग स्वयं अपने लिए निर्मित कर लेते हैं, उन निर्मितियों में रहना अच्छा लगता है और जब कभी ऐसी निर्मितयाँ कहीं से भी टूटती हैं तो हम बचाने का भरसक प्रयास करते हैं, टूटने पर तड़पने लगते हैं।

वे कौन सी चीजें हैं, जिनके बंधन में रहना अच्छा लगता है? इस प्रकार देखने पर वे बहुत-सारे भाव इसके अन्तर्गत आते हैं जिसे मानवीय और स्वाभाविक कहा जाता है। इसके अन्तर्गत लोभ, मोह, माया, ममता, काम, मद, नशा, पदलिप्सा, सुख-सम्मान की भूख आदि तो बंधन-कारक हैं ही, इससे ऊपर प्रेम, राग, ज्ञान, धर्म, संस्कृति, संस्कार आदि भी हमें किसी-न-किसी रूप में बांधते हैं। इतना ही नहीं, बुरी आदतों के तो लोग गुलाम होते ही हैं, अच्छे आचार के भी गुलाम होते हैं। कई बार एक से अधिक अच्छे गुण एक-दूसरे के पूरक बनने के स्थान पर परस्पर विरोधी साबित होते हैं। एक की अधिकता दूसरे की चमक पर कलंक जैसी लगती है। यथा स्वदेश-प्रेम की प्रबल भावना विश्वबंधुत्व और अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रतिकूल दिखाती है। इसी प्रकार सार्वभौमिक-सार्वकालिक भावनाओं के भीतर क्षेत्रीय समसमायिकता तिरोहित दिखती है।

सबसे अधिक गुलाम हम अपने द्वारा, अपने लिए बनायी सुख-सुविधाओं के होते हैं। जो सुख-सुविधाएँ और साधन उपभोग-उपयोग के लिए अपने दायरे से बाहर जाकर भी एकत्र करते हैं, उसके गुलाम हो जाते हैं, उनके बिना रहना खटकता है। लगता है, जैसे हमारे हाथ-पैर कट गए हैं। इन सुख-सुविधाओं, आकांक्षाओं-महत्त्वाकांक्षाओं के पीछे इतने दीवाने होते हैं कि इसी को पाने के लिए अपने व्यक्तित्व को विकृत करके उसकी 'आत्महत्या' तक कर लेते हैं।

स्वतंत्रता का संबंध मनुष्य की चेतना से है और चेतना का उत्स-स्थल अन्तर्जगत है। ऐसे में असली स्वतंत्रता मनुष्य के अंतर्मन की चेतना की होती है। चेतना की मुक्ति ही सही अर्थों में स्वतंत्रता है, इसलिए स्वतंत्रता के लिए पहला प्रयास चेतना के स्तर पर ही आवश्यक है। इसके अभाव में अन्य स्तरों की स्वतंत्रता एक तरह की परतंत्रता ही सिद्ध होती है। चेतना के स्तर पर अपने भावों, विचारों, विकारों की भीतरी जकड़ से मुक्त होकर ही आदमी बाह्य परिस्थितियों की विघ्न-बाधाओं से निजात पा सकता है। यदि वह बाहरी बाधाओं को तोड़ने में असफल भी हो जाए, तब भी अंदर की मुक्त चेतना उसे आनंदित करती रहेगी। महर्षि वासिष्ठ ने बंधन मुक्ति का उपाय इस प्रकार बताया है

मुक्तबुद्धीन्द्रियो मुक्तो
बद्धकर्मेन्द्रियोऽपि हि।
बुद्धबुद्धीन्द्रियो बद्धो
मुक्तकर्मेन्द्रियोऽपि हि।।

अर्थात् जो बुद्धि से मुक्त है, वही वास्तव में मुक्त है, चाहे वह कर्मेन्द्रिय से बँधा ही क्यों न हो और जो बुद्धि से बँधा है, वह पराधीन है, बँधनग्रस्त है चाहे वह शरीर से मुक्त ही क्यों न हो। बुद्धि से मुक्त होने का तात्पर्य क्या है? ऐसी बुद्धि जो किसी भी प्रकार के दुराग्रह, पुरातन-नवीन, रूढ़ि-अंधविश्वास, अंधानुकरण, पक्षधरता, संकीर्णता आदि को जन्म देती है, वह बंधन वाली बुद्धि है, साथ ही जिस बुद्धि द्वारा पद, पैसे, सम्मान के लोभ का उपाय किया जाए, मोह-ममता और कामेच्छा की पूर्ति होती हो, वह बुद्धि बंधित है। यह स्थिर बुद्धि नहीं है जो वीत-राग, लाभ-हानि, जय-पराजय में सम रहे। भगवद्गीता में स्थिर बुद्धि व्यक्ति का लक्षण बताया गया है

प्रजहति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थित प्रज्ञस्तदोच्यते।।
दुखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगत स्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थित धीर्मुनिरुच्यते।।
यः सर्वजानभिस्नेहस्तत्तत्प्रा ह्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

अर्थात् जिस काल में यह पुरुष मन में स्थित संपूर्ण कामनाओं को भलीभाँति त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, उस काल में वह स्थित प्रज्ञ कहा जाता है। दुखों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में उद्वेग नहीं होता, सुखों की प्राप्ति में जो सर्वथा निस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गए हैं, ऐसा मुनि स्थिर बुद्धि कहा जाता है। जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ-अशुभ वस्तु को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

अज्ञेय ने अपनी कविता 'पक्षधर' में बुद्धि के बंधन का चित्र उकेरा है

अपनी पहली साँस और चीख के साथ
हम जिस जीवन के
पक्षधर बने अनजाने ही,
आज होकर सयाने
उसे हम वरते हैं :
इतने घने कि उसी को जीने और
जिलाने के लिए
स्वेच्छा से मरते हैं।

संस्कार चाहे अच्छे हों या बुरे, बाँधते हैं। जैसे अपनी पहली चीख के साथ जन्म के समय हमें जो जातीय, क्षेत्रीय, सांप्रदायिक संस्कार आदि उपलब्ध होता है, उसी के अन्तर्गत हम ढलने-बढ़ने के लिए मजबूर होते हैं; परंतु जब पढ़-लिखकर बड़े हो जाते हैं, तब भी उसी का पोषण करते हैं, उसी को जीने-जिलाने के लिए अपने को मारते हैं। संस्कार चाहे कितने ही अच्छे हों, पर अंतिम नहीं होते, उनमें परिमार्जन-परिष्कार की संभावना सदैव होती है और इसी मानक पर उसका मूल्य भी है। इस प्रकार संस्कार भी जो मुक्त करे, बाँधे नहीं, वही उत्तम है।

संस्कार के अनुसार, चाहे सकारात्मक हो या नकारात्मक, हम कर्म करते हैं और कर्मों के बारे में 'विष्णु पुराण' में कहा गया है कि तत्कर्म यतु बन्धाय, अर्थात् कर्म है ही बंधन के लिए, फिर भी निष्काम-निर्लिप्त कर्म बहुत हद तक बंधन से परे होते हैं। ऐसे कर्मों को करने या न करने से, फल मिलने या न मिलने से कोई खास पफर्क नहीं पड़ता। इसीलिए मनुस्मृति

में कहा गया है

यद्यत्परवशं कर्म तत्त्वद्यत्नेन वर्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत् सेवेत यत्नतः।।

अर्थात् जो-जो कार्य पराधीन हो, उस-उस कार्य को यत्न करके छोड़ देना चाहिए और जो-जो कर्म अपने अधीन हो, उस-उस का यत्नपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिए।

असाधारण पुरुष अपने मार्ग का निर्माण स्वयं करता है। वह लोभ, अहंकार व व्यसन में पड़कर नकल-अनुकरण नहीं करता, किसी कर्म में जबरन प्रवृत्त नहीं होता। इसका एक सटीक उदाहरण जय शंकर प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक में दिया गया है। सिकन्दर का दूत बलपूर्वक महर्षि दाण्डयायन को ले जाना चाहा तो दाण्डयायन ने जो उत्तर दिया, वह काबिलेगौर है। उन्होंने कहा कि यदि दूत चाहे तो बंदी बना सकता है, उसे सिकन्दर के पास ले जा सकता है, उसे शारीरिक कष्ट दे सकता है, इतना सब करने पर भी वह मेरी चेतना व आत्मा को कैद नहीं कर सकता, वह पिफर भी स्वतंत्र-स्वछंद रहेगी। देह जाकर भी आत्मा, मन व चेतना नहीं जा पाएगी। वह सदैव स्वछंद विचरण करने वाली रही है और रहेगी। दाण्डयायन ने ऐसा साहस इसलिए दिखाया, क्योंकि वह छोटी कुटिया बनाकर वैरागी की तरह रहते थे, शारीरिक-भौतिक सुविधाओं के गुलाम नहीं थे, पफलतः इनके होने-न-होने से कोई फर्क उन पर नहीं पड़ने वाला था। बौद्ध जातक में इसी भाव को दूसरे रूप में व्यक्त किया गया है

ग्रामे वा यदि वा रञ्जे सुखं यज्ञाधिगच्छति।
तं जनितं भवित्तं च पुरिसस्सपजानतो।।
यम्हि जीवो तम्हि गच्छे न निकेत हतोसिया।।

अर्थात् ग्राम या वन में, जहाँ आदमी को सुख प्राप्त हो, वही बुद्धिमान आदमी की जन्मभूमि है, वही पलने की जगह है। चेतना के साथ जहाँ रहकर जी सकता हो, वहीं जाए, घर में रहकर चेतनाशून्य मरनेवाला न बने। यहाँ जिस सुख की बात की जा रही है, वह चेतन आनंद है जो लोभ-मोह और ममता से परे है। जहां चेतना का मुक्त विकास हो, वहीं रहना चाहिए।

रुसो ने कहा है कि आदमी स्वतंत्र जन्म लेता है; परंतु हर समय अपने को बंधनों में पाता है। यह बंधन जाति, संप्रदाय, क्षेत्र, रंग जैसे अनायास प्राप्त हुए तो होते हैं, हम जिन अच्छाइयों के सहारे यश, सम्मान प्राप्त करते हैं, वे भी किसी-न-किसी रूप में पिंजड़बद्ध कर लेती हैं। नीति तो यहाँ तक कहती है कि किसी अच्छे-से-अच्छे विचार का भी मनुष्य को पूर्ण गुलाम नहीं बनना चाहिए। यह उसके विरोधियों के लिए अस्त्र का काम करता है। इतिहास में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं। जहाँ आदर्श विचारों में दृढ़ता से चलने वालों का 'अंत' भी उन्हीं विचारों के कारण हुआ। महाभारत काल में भीष्म ने स्त्री पर शस्त्र न उठाने का संकल्प रखा था, फलतः अर्द्ध पुरुष शिखण्डी को युद्ध क्षेत्र में सामने खड़ा करके उन्हें मृत्यु-शैय्या पर लिटा दिया गया। कर्ण दानवीर था, ईशाराधना के समय उससे कोई कुछ भी मांग लेता तो वह अपनी दान निष्ठा के कारण देने के लिए प्रतिबद्ध था, फलतः उसका कवच-कुंडल माँग लिया गया जो उसकी मृत्यु का कारण बना। युधिष्ठिर ने 'क्षत्रिय धर्म' का पालन करते हुए जुआ खेलने से पहरेज नहीं किया, फलतः उन्हें सब कुछ हारना पड़ा। यानी आपका अच्छा व्रत व संकल्प सब दूसरों के लिए छल-कपट का विषय हो सकता है; परंतु नीति चाहे जो कहती हो, संकल्प-व्रती व्यक्ति मृत्यु तक से कभी भयभीत नहीं होता। वह अपने व्रत का पालन हर हालत में करता है। उसके लिए उसे जो भी कष्ट उठाना पड़े, वह उठाता है। सच तो यह है कि वह कष्टों को भी सहर्ष गले लगता है, सुख-सुविधाओं को त्यागता है। हिन्दी के महाकवि सूरदास के मन-मस्तिष्क में नंद-नंदन कृष्ण बसे थे, फलतः सम्राट के यशगान करके सुविधा भोगने की लालसा ही नहीं थी 'नाहिन रहयौ मन में ठौर।' इसी प्रकार कुंभनदास भी अपने संतत्व को प्रकट करते हैं 'संतन को कहा सीकरी सो काम।'

आसक्ति व कामेच्छा हमारी चेतना की गुलामी का मूल कारण है। इसका प्रभाव यह होता है कि जिसके प्रति हमारी आसक्ति होती है उसके प्रति हम अंधता के शिकार होते जाते हैं और उसके पीछे अपनी चेतना को नष्ट करने लगते हैं। ऐसे में चेतना की सीमा सिकुड़ने लगती है और कुछ खास माँग और पूर्ति की संतुष्टि तक सिमट कर रह जाती है। यदि पूर्ण चेतना के साथ उसका उपभोग किया जाए तो बात अलग है, लेकिन सारी चेतना की उत्पत्ति ही कुछ विशेष-विशेष बिन्दु से कुछ विशेष बिन्दु तक हो तो वह चेतना नहीं, अपितु लोभ व लालच को फलीभूत करने वाली भ्रष्ट बुद्धि है। वैसे धतकड़म, कुकर्म, भ्रष्टाचार, बलात्कार, असीमित सेक्स को बुद्धि की तुला पर उचित ठहराने वाले ज्ञानवानों, बुद्धिमानों की कमी नहीं है। वस्तुतः उनकी विद्या-बुद्धि की काबिलियत ही यही है कि वे तर्क गढ़कर किसी भी चीज को खारिज कर देते हैं, किसी भी चीज को स्वीकृत बना देते हैं। आसक्ति में चेतना नहीं होती, भावाद्रेक की अतिशयता जरूर होती है, वहाँ परतंत्र बनना ही सुखकर लगता है। रामधारी सिंह दिनकर ने 'उर्वशी' में लिखा है

मैं तुम्हारे बाण का बींधा हुआ खग,
वक्ष पर धर सीस मरना चाहता हूँ।
मैं तुम्हारे हाथ का लीला कमल हूँ,
प्राण के सर में उतरना चाहता हूँ।

यह उन महापुरुषों के पराक्रम हैं जिन्होंने बहुत कुछ विजित किया, पर अपनी प्रेमिकाओं के पाश में बँधकर अपरिमित सुख की अनुभूति की। यह आसक्ति, भौतिक देह के प्रति है। यही जब ईश्वर के प्रति होती है तो अप्रतिम हो जाती है 'बाँह छुड़ाए जात हो निर्बल जानि के मोहि, हृदय से जब जाओगे सबल गिनोगे तोहि।'

कुल मिलाकर हम जिस परिवेश और जिस स्थिति में रहते हैं, उसी के गुलाम हो जाते हैं। अच्छी स्थिति के ही दास हों, तो फिर भी चलेगा। हम बुरी स्थितियों के भी कम गुलाम नहीं होते। नशा, व्यसन, मनोरंजन, सेक्स का भूत लोगों के ऊपर सवार होता है तो उसके लिए कुछ भी करने के लिए तैयार हो जाते हैं, उसके बिना रहा नहीं जाता। पियक्कड़ से बिना पीए नहीं रहा जाता, कामी अपनी भूख मिटाने के लिए कहीं भी, कभी भी जा सकता है। लेकिन स्थितियों के गुलाम होते हैं, चाहे वह कैसी भी हो। रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' ने लिखा है

प्रखर रवि का ताप झंझा
के असह्य झोंके कठिन
उस तरुण संघर्ष को भी
जो न कर पाए मलिन
झाड़ियों से विलग हो रह न
पाया एक दिन
पफूल काँटों में खिला था
सेज पर मुरझा गया।

जैसे फूल काँटे वाली डालियों पर खिलता है, वैसे ही मनुष्य समस्याओं-संकटों से घिर कर संघर्ष करते हुए अपना विकास करता है। सुख सेज पर अत्यधिक खुशी की चाह में कई बार अपना पर्यवसान कर लेता है। *